बिल्हणकविविरचितं

वीरसिंहचरितम्

(हिन्दीव्याख्यासमन्वितम्)

व्याख्याकारः सम्पादकश्च

डॉ० दलबीरसिंह चौहान

एम० ए०, पी-एच० डी, आचार्य

उपाचार्य–संस्कृत विभाग

गया कालेज, गया

शिव प्रकाशन, गया

बिल्हणकविविरचितं

वीरसिंहचरितम्

(हिन्दीव्याख्यासमन्वितम्)

व्याख्याकारः सम्पादकश्च

डॉ० दलवीरसिंह चौहान

एम० ए०, पी-एच० डी, आचार्य

उपाचार्य—संस्कृत विभाग

गया कालेज, गया
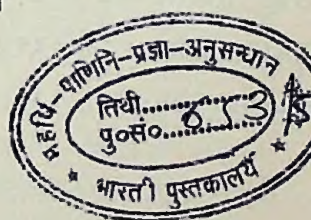
शिव प्रकाशन, गया

प्रकाशक :—

शिव प्रकाशन, गया ।

प्राप्तिस्थान:—

१—रूपेश कुमार
जयप्रकाश नगर, गया ।

२—साहित्य सदन
कोतवाली चौक, गया ।

प्रथम संस्करण ५०० प्रतियाँ

प्रकाशन वर्षः — सन् १९९२

मूल्य :—२०.००

मुद्रक :

विजय प्रेस,

सरसौली, वाराणसी ।
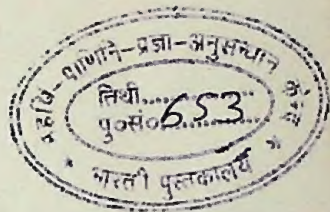
प्राक्कथनम्

गीतिकाव्य की समृद्धि परम्परा में वीरसिंह-चरितम् का महत्त्वपूर्ण स्थान हैं। इस लघुकाव्य के प्रणेता महाकवि बिल्हण दसवीं सदी के सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक कवि हैं। कविवर कालिदास के मेघदूत से प्रस्तावित इनकी काव्य-रस-धारा सहृदय पाठकों को रसमग्न करती हुयी इस लघु-काय काव्य में सर्वत्र अनुस्यूत है। शृङ्गार के दोनों पक्ष संयोग और वियोग कहीं-कहीं अनुपम हो गये हैं। राजा वीरसिंह की पुत्री चन्द्रकला के साथ कवि बिल्हण का प्रणयोन्माद इतना उदात्त हो गया है कि सहृदय पाठक को बलात् आकृष्ट किये बिना नहीं छोड़ता। परन्तु खेद है कि ऐसी अद्भुत कृति की हिन्दी व्याख्या की समुपलब्धि का आज तक अभाव रहा। इसे संस्कृत के प्रति सामाजिक उदासीनता ही कही जायेगी।

सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के हस्तलिखित पुस्तकालय में इसकी खण्डित पाण्डुलिपि को देखकर मेरी अन्तःप्रसुप्त भावनाओं ने मुझे इसकी सानुवाद व्याख्या करने को बाध्य कर दिया। अथक परिश्रम के उपरान्त मैं इस पुनीत कार्य को सम्पन्न करने में सफल हुआ और साधारण-जन-बोध्य बनाने के लिए सरलतम भाषा में प्रस्तुत कर सका।

आशा है कि अवश्य ही यह पुस्तक सहृदयहृदयाह्लादकारिणी होगी तथा शृङ्गार प्रेमियों को अवश्य ही शृङ्गार रस में निमग्न कर देगी। अपने कार्य में कोई कमी नहीं रखना चाहता तदपि कहीं-कहीं त्रुटि होना मानव स्वभाव है। अतः इसके लिये विद्वज्जन मुझे क्षमा करते हुये उचित परामर्श का पात्र बनायेंगे।

विनयावनत

बलवीर सिंह

संस्कृत विद्या के अनन्य प्रेमी

आयुर्वेदमर्मज्ञ समाजसेवक

पूज्यपाद पितृदेव

स्वर्गीय श्रीशिवसिंह जी

को

पुण्यस्मृति में

सादर

समर्पित

प्रस्तावना

गीतिकाव्य

'गीयते इति गीतम्' अर्थात् गेयत्व गीत का सामान्य बोध है। इसी-लिये इसे प्रायः गाना ही समझा जाता है। तथ्य भी यही है कि जिसमें शृङ्गार, गायन, वादन की प्रधानता हो वही 'गीत' कहा जाता है—किन्तु यहाँ रागात्मक-भावना को छन्दोबद्ध-रूप में प्रकट करना अभिप्रेत है। गीतिकाव्य में रागात्मकता तथा ध्वन्यात्मकता का अन्वयव्प्रतिरेकि सम्बन्ध है। पाश्चात्य साहित्य अंग्रेजी में गीति को 'लिरिक' शब्द से अभिहित किया गया है, जिसका मूल अर्थ गेयत्व ही समझा जाता है लिरिक शब्द ही इसका प्रमाण है, क्योंकि इसकी व्युत्पत्ति यूनानी शब्द लायर से हुयी है; जो एक प्रकार का वाद्य होता है! प्रारम्भ में इसी वाद्य पर अकेले व्यक्ति द्वारा गाये हुए गीत ही 'लिरिक, कहलाते थे। अंग्रेजी 'लिरिक' (गीति काव्य) का उद्भव इन्हीं गीतों से हुआ।

गेयत्व के अतिरिक्त गीतिकाव्य में आत्मानुभूति की भी सर्वाधिक आवश्यकता है। इसके अभाव में कोई भी पद्य-रचना गेय होते हुये भी गीतिकाव्य की श्रेणी में नहीं आ सकती; परन्तु ऐसी पद्यरचना, जो कवि की आत्मानुभूति पर आधारित हो, अगेय होने पर भी गीतिकाव्य के भीतर समा जाती है। साधारणतया गीत को व्यक्तिगत सीमा में सुखदुःखात्मक—अनुभूति का वह शब्द-रूप माना है, जो अपनी ध्वन्यात्मकता में गेय हो सके। उनकी इस परिभाषा में गेयत्व को गौण और आत्माभिव्यक्ति को प्रमुख स्थान दिया गया है।

यह आत्माभिव्यक्ति ही गीति का प्रमुख तत्त्व है। गीति में मनुष्य की विभिन्न अनुभूतियों की अभिव्यक्ति होती है। हर्ष, विषाद, राग,

---

1 Tuhial Forms of Englush Sitesotuse P.P 31

शुद्ध पत्र अन्त मे

द्वेष, संयोग आदि अनेक मनोवृत्तियों का चित्रण उसमें हो सकता है। इस प्रकार गीत के रूप तो अनेक हो जाते हैं। परन्तु सर्वत्र आत्माभिव्यञ्जन की प्रधानता रहती है। दूसरी ओर प्रबन्धकाव्य या महाकाव्य बाह्यविषयात्मक हैं। उनमें अलंकारों का नाद, चरित्र-चित्रण, वन, उपवन, नगर, गाँव आदि की शोभा आकर्षण के केन्द्र तो बनते हैं, परन्तु जीवन की गम्भीर-अनुभूति का उदात्त स्वरूप देखने को नहीं मिलता।

पाश्चात्य विद्वान् भी आत्मवाद को गीत का मूल आधार मानते हैं। हीगेल और अल्फ्रेड ने भी इसे स्वीकार किया है। डा हड्सन के अनुसार गीति काव्य में अनुभूति की सघनता और औचित्य अपेक्षित है। भाव और भाषा का सामञ्जस्य इसकी विशेषता है। विशुद्ध गीति किसी एक चित्तवृत्ति की अभिव्यक्ति करती है। अतः संक्षिप्तता उसका स्वभाव है। उसके कलेवर की लघुता घनीभूत भाव को व्यक्त करती है तथा कला का चमत्कार उसकी हीनता का सूचक है।[1]

भारतीय विद्वानों ने भावाभिव्यक्ति पर विशेष बल नहीं दिया, परन्तु पाश्चात्य विद्वानों की तरह महादेवी वर्मा जैसे आलोचकों ने गीति में गेयत्व को गौण कर भावानुभूति को प्रधान स्वीकार किया है। हिन्दी के कवियों ने इसे स्वीकार किया और अनेकों अगेय गीतों का प्रणयन हुआ जो परम्परा आज तक प्रचलित है परन्तु संस्कृत के कवि तो छन्दोहीन-कविता की कल्पना ही नहीं कर सकते 'गद्यो निगद्यते छन्दोहीनपदकदम्बकम्'।[1] हिन्दी में छन्दोहीन-कविता को गीति काव्य की मान्यता अंग्रेजी साहित्य देता है, परन्तु संस्कृत-साहित्य इसे गद्य की ही संज्ञा देता है। अतः संस्कृत-साहित्य के क्षेत्र में डॉ० ओझा की परिभाषा अधिक उपयुक्त है। उन्होंने इस परिभाषा को चार सीमा-रेखाओं में बांधा है।

---

1 **Enlroduction to the studp & Siteratuse P.P 126**

१–जिस छन्दोबद्ध रचना में भावातिरेक की धारा इस रूप में प्रवाहित हो कि उसमें स्वरलहरियां स्वभावतः तरलायित हों।

२–जिसमें कवि या पात्र की रागात्मकता उसके व्यक्तित्व के साथ मिलकर आत्म-निवेदन के रूप में तरङ्गायित हो।

३–जिसका आयतन इतना बड़ा हो कि कवि की रागात्मकता का प्रभाव शिथिल न पड़ने पावे

४–जिसमें घटना गौण और भावप्रधान हों तथा जिसमें एक-भाव, एक-लय, एक-निवेदन, एक-रस और एक ही परिपाटी हो वह गीतिकाव्य है।

गीतिकाव्य की यह परिभाषा बहुत ही उपयुक्त है। इन सभी परिभाषाओं के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जिसमें भावाभिव्यञ्जकता, अहंशून्यता, सहज अन्तःप्रेरणा, वस्तुगौणता, संक्षिप्तता, सरल सुबोधता, एकरसता स्वाभाविकता, न्यूनपात्रता और गेयता हो वह गीतिकाव्य कहा जाता है।

भावाभिव्यञ्जकता भावाभिव्यक्ति तो काव्य का प्रमुख तत्त्व है ही तथापि गीतिकाव्य में इसका प्राधान्य अपेक्षित है। कवि की अन्तः-प्रेरणाओं से प्रस्फुटित सामान्य की सीमाओं से अतिरिक्त भाव ही भावातिरेक है, जो गीत के रूप में परिणत होकर सहृदय-श्लाघ्य हो जाता है। जैसे कि एक क्रौञ्च-द्वन्द्व के वियोग से उत्पन्न महर्षि वाल्मीकि का शोक ही श्लोक के रूप में परिणत हो गया (क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः)।

वैसे तो महाकाव्य, प्रबन्धकाव्य, नाटक आदि सभी में भावों की मार्मिकता अनिवार्य है, परन्तु भावों की चरमोत्कर्ष ही गीत का प्रमुख तत्त्व है तथा यदि वह प्राकृतिक-वर्णनों के रूप में व्यञ्जना-वृत्ति के माध्यम से रसाप्लवित करती है तो कवि की अप्रतिम काव्यकुशलता और काव्य की उत्कृष्टता का परिचायक है

अहंशून्यता—गीत में भावातिरेक हो और वह इतना हो कि सहृदय-सामाजिक को कुछ क्षण के लिये अहंशून्य बना दें। यह अहं-शून्यता ही परमानन्द की पराकाष्ठा है तथा भावातिरेक में 'मैं' का बोध और समय का आभास समाप्त हो जाता है। यही अहंशून्यता है। सच्चा गीत वही है जो भावातिरेक से सामाजिक को उस क्षण में अहं-शून्य बना दे।

सहज-अन्तः-प्रेरणा – भवातिरेक से सहृदयजन को अहंशून्य बनाने के लिये कवि की सहज अन्तःप्रेरणा अपेक्षित है। वैसे ता सभी प्रकार के काव्य अन्तःप्रेरित होते हैं जैसे महाकवि वाल्मीकि ने क्रौञ्चद्वन्द्व के वियोग से अन्तःप्रेरित्त हो काव्य लिखा। परन्तु गीति में इसकी अधिक आवश्यकता होती है क्यों कि इससे वस्तु तथा विषय का आधार नाम माना रहता है। इसमें तो कवि की व्यक्तिगत अन्तःप्रेरणा ही मूल कारण है क्यों कि बिच्छू जिसको काटता है लहर उसी को होती है जिसको प्रेम के बिच्छू ने काटा ही नही वह क्या जानता है कि प्रेम की लहर कैसी होती है। उदाहरणार्थ महाकवि कलिदास के मेघदूत में उनके व्यक्तित्व का प्रतिफलन स्पष्ट द्रष्टव्य है जिससे अन्तःप्रेरित हो काल्प-निक कथावस्तु वस्तुगौणताः के आधार पर अपनी अन्तः प्रेरणाओं को अभिव्यक्ति किया है।

यह तो पहिले ही बताया जा चुका है कि गीतिकाव्य भाव-प्रधान एवं सहज-अन्तःप्रेरणाओं पर प्रणीत होते हैं, परन्तु उनके व्यक्तीकरण हेतु वस्तु व्यवस्था भी अनिवार्य है। परन्तु वह वस्तु-योजना महाकाव्यों एवं नाटकों की तरह प्रधान नहीं होनी चाहिये। गीतिकाव्य काल्पनिक-वस्तु-योजना पर भी चल सकता है; जैसे कि महाकवि कालिदास ने अपनी सहज-अन्तः–प्रेरणाओं के मूर्तरूप काल्पनिक वस्तु व्यवस्था पर आधारित मेघदूत की रचना कर डाली।

अतः गीति-काव्य में वस्तु काल्पनिकता रहे। साथ ही वह प्रधानता

को प्राप्त न हो जाये वस्तु व्यवस्था इतनी समृद्ध न हो जाय कि वह आत्माभिव्यक्ति को ही निगल जाय। अतः उसको गौणता अनिवार्य है।

संक्षिप्तता—गीतिकाव्य में संक्षिप्तता का बहुत ही महत्व है क्योंकि भावातिरेक कुछ ही क्षणों तक स्थिर रहता है। अधिक समय के बाद मानव ऊबने लगता है अतः ऊबने की स्थिति आने के पूर्व ही गीतिकाव्य की इतिश्री हो जानी चाहिये। उसके आकार का स्वरूप भावना पर आधारित होता है। कभी-कभी कवि एक ही पद्य या गद्य द्वारा भावना के पूर्ण आवेश को अभिव्यक्त कर देता है, तथा कभी-कभी अनेक पद्यों में उसे ऐसा संजोता है कि पाठक निरन्तर आने वाले पद्य के भाव-बोध के लिये उत्कण्ठित रहता है, परन्तु अतिविस्तार्य उपेक्षा का जनक है।

सुबोधता—गीति की भाषा सरल एवं सुबोध होनी चाहिये ताकि पाठक को समझने में विलम्ब एवं काठिन्य न हो। विलम्ब एवं काठिन्य से रसभङ्ग होना स्वाभाविक है। कम से कम सरल एवं सुबोध शब्द-योजना के माध्यम से भावाभिव्यक्ति कर सहृदय को रसाप्लावित कर देना गीति का विशेष गुण है।

एकरसता—एकरसता भी गीतिकाव्य का एक अनिवार्य तत्त्व है। गीतिकाव्य प्रारम्भ से अन्त तक एक ही रस में निमग्न रहना चाहिये तभी वह पाठक को रसमग्न बना सकता है। यों तो गीतिकाव्य किसी भी रस को आधार मान सकता है। परन्तु संस्कृत कवियों ने विशेष रूप से शृङ्गार रस को ही गीति के अनुरूप माना है। यहां यदि एकरसता के स्थान पर शृङ्गारपरकता को ही माना जाय तो निरर्थक न होगा।

स्वाभाविकता—स्वभावों का स्पष्ट चित्राङ्कन गीत में इस प्रकार संयोजित होना चाहिये कि सहृदय-सामाजिक उसे अपने अपने हृद्गत-भावों से पूर्ण रूप से तौलने में समर्थ हो सकें। इसके लिये कवि की निजी अनुभूतियां भी कारण हैं।

न्यूनपात्रता—गीति काव्य में कम से कम पात्र होना अनिवार्य है।

पात्र दो से अधिक नहीं होने चाहिये यदि दो से अधिक हों भी तो नायक नायिका के अतिरिक्त उनके चरित्र-चित्रण गौण हों, तथा वे प्रधान पात्रों के सहायक के रूप में रङ्गमञ्च पर प्रस्तुत हों।

गेयता—इन सभी तत्त्वों के रहते हुए गेयता के अभाव में कोई भी गीत कहे जाने का कभी अधिकारी नहीं। भले ही अंग्रेजी कवियों ने गेयत्वविहीन काव्य को गीतिकाव्य माना हो, परन्तु संस्कृत साहित्य में छन्दोहीन कविता को गद्य ही कहा जाता है। गेय छन्दों के परिधान में गीतिकाव्य का सौन्दर्य और भी खिल उठता है। छन्द मानव की भावनाओं का प्रेरक होता है, क्योंकि प्रेरणार्थक 'छदि' धातु से छन्द बना है। अतः छन्न विस्मय द्वारा चेतना को मन्द करके मोहन निद्रा ला देता है, आनन्द-विभोरता उत्पन्न कर देता है।' सत्त्व को उद्दीप्त कर मानव को प्रकृतिस्थ कर देता है। छन्द काव्य में व्यञ्जकता और संवेदनशीलता उत्पन्न कर देता है। वह अपनी ध्वनि की गति से अर्थ का प्रकाशन करता है, तथा संवेदनशीलता के सन्तुलन को बचाने में सहायता करता है। संवेदनशील नाड़ियों में रक्तसंचार कर देता है। गीत की ध्वनि ज्ञानतन्त्रियों में रक्त का संचार कर एकरसता उत्पन्न कर देती है जिससे सहृदय भावविभोर हो कल्पनाओं के सागर में आकण्ठ निमग्न होकर परमानन्द सहोदर सुख की अनुभूति करता है। इसलिए डा० एस० एन० दास का कहना है कि संस्कृत कविता की गेयता परिचित कानों पर उसी प्रकार प्रभाव डालती है कि केवल कविता पाठ ही प्रभाव उत्पन्न करने के लिए पर्याप्त है[1]। अतः गीति में गेयता आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है। हाँ यह माना जा सकता है कि गीत को संगीत के बन्धन में बाँधना उचित नहीं है। इसीलिए जॉनड्रिक वाटर का कहना शतप्रतिशत उचित है कि "गीत के ढाँचे में ढालने से कविता का मूल्य घट जाता है। किसी

---

1. एस० एन० दास गुप्त संस्कृत साहित्य के इतिहास की भूमिका।

गायक के हाथ में जाने पर कविता कविता नहीं रह जाती। इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि गीति के लिए गेयत्व तो अपेक्षित है परन्तु उसे संगीत में ढालना उचित नहीं, क्योंकि फिर श्रावक सङ्गीत की स्वरलहरियों में भ्रमित होकर अल्पानन्दित हो भावाभिव्यक्ति से उत्पन्न परमानन्द को उसी तरह प्राप्त नहीं कर पाता जैसे कि पुष्परस का लुब्धक भ्रमर कली की सुकोमलता और चारुता से मुग्ध होकर पुष्प की विशेषताओं को हीन समझ सके।

अगेय पदों को हिन्दी साहित्य ने गीतों के रूप में स्वीकार तो अवश्य किया परन्तु वे पूर्णतः हास्यास्पद ही हैं। केवल आत्मानुभूति एवं संवेदन-शीलता से ही कोई पदसमूह गीतिकाव्य का स्थान नहीं पा सकता। ऐसे अगेय गीतों को गद्य ही कहना अधिक उचित होगा तथा आत्मानुभूति-विहीन कविता भी गीत नहीं कही जा सकती।

गीतिकाव्य की परम्परा और महाकवि विल्हण

गीतिकाव्यों के प्रणयन में संस्कृत कवियों का अपूर्व अनुराग दृष्टि-गोचर होता है। यह परम्परा प्रायः वैदिक युग में ही पड़ गयी थी। सर्वाधिक प्राचीन साहित्य ऋग्वेद के यम-यमी और पुरुरवा-उर्वशी संवाद में जहाँ नाटकों के मूल बीज अन्वेषणीय है, वहीं उनमें आत्मानुभूति एवं शृङ्गारिक भावनाओं के संकेत भी अनुपलब्ध नहीं हैं, जिसके आधार पर हम उन्हें गीति का मूलरूप मान सकते हैं। "अपने प्रियतम सूर्य के समक्ष कुमारी उषा के वक्ष खोलने, जैसे प्रसङ्गों से वेद में गीति के मूलबीज-विषयक सन्देह की निवृत्ति तो स्वतः सम्भाव्य है। ऋग्वेद के प्रकृतिवर्णन में कोरा प्रकृतिवर्णन नहीं, उसमें मानव मनोविकारों को स्पष्ट अभिव्यञ्जना भी विद्यमान है। उन सूक्तों में दाम्पत्यरति तथा यौनभावनाभिव्यक्ति की स्पष्ट झलक भी देखने को मिलती है।" "यमी द्वारा यम से

---

१. जान ड्रिंक वाटर के आर्ट एण्ड क्राफ्ट आफ लैटर्स (पेज ५०)।

प्रणय-निवेदन, भगिनीत्ववश यम द्वारा अस्वीकृति, यमी द्वारा प्रजापति के पुनरस्वीकृति पर यमी द्वारा कामोत्कण्ठित कातर वाणी में यम से प्रणय निवेदन करना गीतिकाव्य का ही रूप है।

इसके अतिरिक्त जहाँ स्फुट सन्देश रचनाओं की बात है, सो ऋग्वेद में सन्देशवाहक के रूप में सरमा नामक कुतिया का प्रसङ्ग उदाहरणार्थ स्मरणीय है।

रामायण-महाभारत और उनके परवर्ती काव्यों में इस प्रकार के छुट-पुट प्रसङ्ग प्रचुर रूप से मिलते हैं। कदाचित् वाल्मीकि के शोकोद्गारों में भी यह भावना पूर्णतः प्राप्त होती है। अधिक क्या रामायण का प्रणयन ही क्रौञ्च द्वन्द्व के वियोगजन्य आत्मानुभूतियों का ही परिणाम है। सन्देशकाव्य के रूप में पतिवियुक्ता प्रवासिनी सीता के प्रति प्रेषित राम का सन्देशवाहक हनुमान, प्रेयसी दमयन्ती के पास राजा नल द्वारा प्रेषित सन्देशवाहक हंस, इसी परम्परा के अन्तर्गत गिने जाने वाले पूर्वप्रसङ्ग है। भागवत का वेणुगीत और भ्रमरगीत इस परम्परा में विशेष उद्धरणीय हैं, जो सूरदास जैसे महान् हिन्दी कवियों के प्रेरणा स्रोत बने।

शान्तरस की एक नवीन धारा को प्रवाहित करने के क्रम में बौद्धों का दुःखवाद है जिसको विण्टरनित्ज ने ऋग्वेद और कालिदास के मध्य का सर्वोत्कृष्ट गीतिकाव्य माना है।

गीतिकाव्य की विकासशील परम्परा में गीतिकाव्य के मुख्यतः दो रूप पाये जाते हैं। (१) प्रबन्ध काव्य, (२) मुक्तक काव्य।

प्रबन्ध काव्य के अन्तर्गत शृङ्गार काव्य और सन्देश काव्य आते हैं। इन दोनों प्रकारों में शृङ्गार की भावना प्राधान्य है। आत्मनिवेदन की तीव्रानुभूति इन शृङ्गार काव्यों की महती विशिष्टता है। शृङ्गार के दोनों पक्ष संयोग और वियोग इन काव्यों में विवर्णित हैं। संस्कृत कवियों का संभोग शृङ्गार विचित्र एवं दिव्य होने के साथ-साथ बहुत कुछ ऐन्द्रियक माना जाता है। रमणी का सौन्दर्य इन काव्यों में जितनी सुन्द-

रता और स्वाभाविकता के साथ प्रस्फुटित हुआ है, उतना अन्य साहित्यों में सर्वथा दुर्लभ है। सम्भोग की अवस्थाओं का भी मार्मिक चित्र उपस्थित करने में यह साहित्य निःसङ्कोच अग्रसर होता चला गया है। इसी परंपरा में सम्भोग सुखानुभूति व्यक्ति के किसी कारणवश वियुक्त हो जाने पर जो वियाग व्यथित दशा विवेचित है, वह जनमानस के भावोद्वेलित किये बिना नहीं रहती। इस परम्परा में सन्देश काव्य आते हैं, जिसमें महाकवि कालिदास का मेघदूत सर्वाधिक प्रशस्त सन्देशकाव्य है।

मुक्तक काव्यों में वे छिटफुट रचनाएँ आती हैं, जो या तो भक्तिपरक हैं या फिर शृङ्गार परक अथवा नीतिपरक। भक्तिपरक रचनाओं में स्तोत्र साहित्य आता है, जिसकी संस्कृत साहित्य में भरमार है। नीति-परक रचनाओं में सदाचार राजनीति, धर्म और दर्शन आदि का चित्रण होता है, उसी प्रकार प्रबोधक-मुक्तक है जिनमें वेश्याओं की कुटिलता से बचने के उपाय सम्बन्धी उपदेश होते हैं। संस्कृत साहित्य की सर्वाधिक विशेषता उसके शृङ्गारिक विवेचन में है। महाकाव्य, नाटक, गीतिकाव्य चम्पू और गद्यकाव्य आदि सभी में शृङ्गार प्राप्त उपलब्ध हो ही जाता है। जो संस्कृत साहित्य की सर्वोत्कृष्टता का परिचायक है। गीतिकाव्यों में प्रबन्धात्मक-गीतिकाव्य तो प्रायः पूर्ण शृङ्गारोद्वेलित हैं ही, मुक्तक रचनाओं में शृङ्गारिक विवेचनों की कमी नहीं है। प्रकृति वर्णनों में भी कवि वनों; पर्वतों, नदियों वनस्पतियों का सूक्ष्म चित्रांकन कर उनमें शृङ्गारिक स्थितियों एवं भावों की अद्भुत कल्पना करता है।

जो भी हो, सभी प्रकार के गीतिकाव्यों में मानवीय भावनाओं का सूक्ष्म मार्मिक और सजीव चित्र उतारा जाता है। अन्तर केवल इतना है कि मुक्तक काव्यों के वर्णन सदा एक से सजीव और सरस होते हैं। इसके विपरीत प्रबन्ध-गीतिकाव्य सदा घटना, काल, स्थान, वातावरण आदि से पूर्णतया प्रबन्धित होते हैं।

गीतिकाव्यों में शृङ्गार भावना—गीतिकाव्य की सभी विधायें प्रायः शृङ्गारिक विवेचनों से ओत प्रोत हैं। स्तोत्र साहित्य से भी भगवान् की स्तुति में कहीं कहीं सख्यभाव का प्रदर्शन तथा उसकी प्राप्ति के प्रयास और न प्राप्त होने पर उद्विग्नता, अप्रत्यक्ष रूप से शृङ्गारिक भावनाओं से ही सम्बन्धित है। सन्देश काव्य तो प्रायः शृङ्गार के एक पक्ष (विरह) पर प्रणीत ही होते हैं। उन सभी काव्यों में यदि विरह प्रधान है, तो यत्र तत्र मिलन की स्मृतियों में सम्भोग की सुखमय घड़ियाँ भी कम विवर्णित नहीं हैं। इसके अतिरिक्त कुछ गीतिकाव्य तो प्रायः शृङ्गार के संयोग पक्ष पर ही प्रणीत हैं। महाकवि कालिदास का 'ऋतुसंहार', इस तरह के गीतिकाव्यों में पहली कृति है। इसके अतिरिक्त अमरुक कवि का 'अमरुक-शतकम्' भर्तृहरि का 'शृङ्गारशतक' तथा क्षेमेन्द्र का 'कला-विलास-काव्यम्' भी उच्चकोटि की शृङ्गारिक रचनायें हैं जिनमें सम्भोगकालीन मानवीय भावनाओं के सजीव, सरस एवं मार्मिक चित्र खींचे गये हैं। इसके बाद शृङ्गार काव्य के क्षेत्र में महाकवि बिल्हण का पदार्पण अपनी प्रणयकथा 'चोरपञ्चाशिका' (सन् १०८० ई०) में होता है इसके अतिरिक्त अन्य भी अनेकों नीति काव्य लिखे गये हैं।

यहाँ पर यह उल्लेखनीय है कि सभी प्रकार के गीतिकाव्यों में मानवीय भावनाओं का सूक्ष्म, सजीव और मार्मिक चित्र उतारा गया है। शृङ्गारिक भावनायें तो इन काव्यों में अन्तिम सोपान पर अवस्थित हो गयी हैं। कहीं कहीं तो ये संस्कृत के प्रतिष्ठित कवि इतने शृङ्गाररस मग्न हो गये हैं कि शिष्टाचार की सीमाओं के लांघने में भी नहीं हिचकिचाये हैं। क्योंकि उनके काव्यों में इन्द्रिय के उत्तेजक काम का अभिराम चित्रण इतना अविराम हो गया है कि आधुनिक लेखक अश्लीलता का आक्षेप कर ही देते हैं। किन्तु यह आक्षेप निराधार है क्योंकि शृङ्गार रस ही तो संस्कृत कवियों की दृष्टि में रसराज कहा गया है तथा यह रस ही सभी रसों का बीज भी है। रसों का ही नहीं समस्त सृष्टि का ही यह

मूल कारण है। अतः इस रस में प्रवीणता ही कवित्व की कसौटी पर खरा उतरता है। ऐसे आक्षेपक यदि इन्द्रिय के उत्तेजक काम के अभिराम चित्रण को शिष्टाचार-हीन या अश्लील मानते हैं तो वे स्वयं क्यों नहीं कालिदास के समान विश्वप्रसिद्ध कवि बन गये। कालिदास तो इस काम के अभिराम के बल पर ही विश्वप्रसिद्ध कवि घोषित हुए, जिनकी कविता कामिनी से विश्वप्रसिद्ध जर्मन निवासी महाकवि गेटे को इतना मन्त्रमुग्ध कर दिया कि उन्हें यह कहना पड़ा कि 'जो लोग सेक्सपीयर से कालिदास की तुलना करते हैं वे अपनी अज्ञता का परिचय देते हैं। सेक्सपीयर के सारे नाटक एक पलड़े पर रख दिये जायँ और कालिदास का केवल "अभिज्ञान-शाकुन्तलम्" दूसरे पलड़े पर रखा जाय तो भी वह पलड़ा भारी हो जायेगा। यही नहीं साथ ही यह भी कह डाला कि स्वर्ग और नरक को यदि एक ही स्थान पर देखना चाहते हो तो अभिज्ञानशाकु-न्तलम् को पढ़िये।"

महाकवि की यह उक्ति किसी देश, भाषा, जाति, रंग अथवा किसी अन्य भावना से ग्रसित तो नहीं है। उन्होंने तो निष्पक्ष भाव से यह कह दिया है। आखिर उन्होंने अभिज्ञानशाकुन्तलम् को बिना पढ़े तो नहीं कहा होगा, यदि पढ़ा होगा तो उन्हें भी इन्द्रिय के उत्तेजक काम का अभिराम चित्रण अवश्य ही तृतीय अंक में प्राप्त हुआ होगा। भले ही वह अविराम न बन पाया हो। अविराम के लिये 'कुमारसम्भवम्' का अष्टम सर्ग द्रष्टव्य है। अतः शृङ्गारिक भावनाओं पर जो लोग इस तरह के आक्षेप करते हैं। वे ठीक उसी प्रकार हैं जैसे कोई गूंगा मीठे फल का रस तो भरपूर ले परन्तु उसका स्वादु न बता सके।

जहाँ तक काम के अभिराम चित्रण की बात है, वह अन्य लोगों को भले ही अच्छी न लगे, परन्तु संस्कृत कवियों को तो बहुत ही अच्छी लगी। उन्होंने इस परम्परा को बहुत महत्त्व दिया और अनेकों प्रकार के शृङ्गार

काव्यों की रचना हुयी तथा इन रचनाओं की शृंखला इतनी बढ़ी कि 'सारा संस्कृत साहित्य ही शृङ्गारमय हो गया क्यों कि प्राचीन मनीषी काम को बहुत पवित्र महत्त्वपूर्ण तथा जीवन का एक एक अनिवार्य तत्त्व मानते थे। तथा उनके काव्य-सृजन का मूल कारण भी यह काम ही रहा। किसी को कामिनी के कटाक्षों ने कवि बनाया, कोई नववधू के अधर मधु को पीकर मतवाला हो कविता करने लगा, कोई पीनस्तनी के स्तनों से फिसलकर कविता लिखने बैठ गया, कोई तन्वङ्गि की त्रिवली में ही फँस कर गुनगुनाने लगा तो कोई खुली जंघाओं को छेड़ने में असमर्थ हो गीत गाने लगा। जब वे स्मृतियाँ स्मृति पटल पर बार-बार नाचने लगी तो कविता की नहीं वरन् स्वतः हो गयी। अतः यह मानना होगा कि शृङ्गार रस ही संस्कृत गीति काव्यों का प्राण है। गीति का उद्भव ही शृङ्गार से हुआ है।

शृङ्गारिक गीति काव्यों की परम्परा में महाकवि बिल्हण

शृङ्गारिक गीति काव्यों की परम्परा में कविकुलशिरोमणि कालिदास के बाद महाकवि बिल्हण का नाम लिया जाय तो अत्युक्ति न होगी। ये काश्मीर के निवासी माने गये हैं। पाण्डित्य परम्परा में काश्मीर का एक प्रमुख स्थान रहा है। इसी परम्परा का निर्वाह करने वाले कश्मीर की राजधानी प्रवरपुर के पास कोणमुख गाँव के निवासी एक कौशिक गोत्रीय ब्राह्मण परिवार में इनका प्रादुर्भाव पिता ज्येष्ठ कलश और माता नागदेवी के आनन्दवर्धन का द्योतक था। इनके पितामह मुक्ति कलश और पिता ज्येष्ठकलश दोनों ही संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान् थे। इनके पिता ने महाभाष्य पर टीका लिखी थी। इनकी शिक्षा दीक्षा भी कश्मीर में हुयी। व्याकरण और काव्यशास्त्र में ये निष्णात थे। इन्होंने समस्त भारत का भ्रमण किया था। मथुरा, वृन्दावन, कन्नौज, प्रयाग, काशी, गुजरात आदि स्थानों की इन्होंने यात्रा की। कुछ ये वृन्दावन

में भी रहे, जहाँ भगवान् राम पर एक काव्य रचा।[१]

'विक्रमाङ्कदेवचरित, के अनुसार १०६४–९४ के लगभग ये गुजरात प्रान्त में अर्णहिलवाड़ के चालुक्यवंशीय राजा कर्णदेव त्रैलोक्यमल्ल के पास भी रहे। जब यहाँ इन्हें पूर्ण सम्मान प्राप्त नही हुआ तो गुजरात में भक्ति सुमन चढ़ाकर दक्षिण को चल दिये और रामेश्वर पहुँचे। सन् १०७६–११२७ ई० के लगभग ये कल्याण के राजा विक्रमादित्य की सभा में पहुँचे। यहाँ इनको पूर्ण सम्मान प्राप्त हुआ और विद्यापति की उपाधि से विभूषित हुये तथा राजा द्वारा एक नीला छत्र प्राप्त हुआ और एक हाथी उपहार-रूप प्राप्त हुआ। कल्हण के अनुसार हमें विदित होता है कि बिल्हण वास्तव में हर्ष के राज्यारोहण तक जीवित थे।[२]

कवि की रचनायें—

अभी तक महाकवि की पाँच रचनाओं का उल्लेख संस्कृत साहित्य में प्राप्त होता है।

१—विक्रमाङ्कदेवचरितम्—यह एक ऐतिहासिक महाकाव्य है। इसमें कवि ने विक्रमादित्य उपाधिधारी राजाओं की छठी शृङ्खला में उत्पन्न हुये अपने आश्रयदाता चालुक्यवंशीय राजा त्रिभुवनमल्ल का विस्तृत वर्णन किया है। इसीलिये इस काव्य का नाम "विक्रमाङ्कदेवचरितम्" रखा गया है। इसमें चालुक्यवंशीय त्रैलोक्यमल्ल की विजय, उसके बडे भाई सोमेश्वर का सिंहासन से पदच्युत होना और उसकी पराजय, तथा चोलों के साथ अनेक युद्धों का वर्णन है।[३]

२—कर्णसुन्दरी। यह नाटिका चार अङ्कों की है जो बम्बई काव्यमाला संस्करण में प्रकाशित है। इसमें चाल्लुक्य राजकुमार कर्णदेव

---

१. विक्रमांक देव चरितम्। १८।९४

२. ,, १८।९७

३. राजतरंगिणी। ७१९३५-३८

का राजकुमारी विद्याधर के साथगुप्त मिलन तथा विवाह का मनोरम वर्णन है।

३—शिवस्तुति-यह विल्हण की तृतीय रचना है जो बम्बई काव्य-माला में प्रकाशित है।

४—चौरपञ्चाशिका—यह ५० श्लोकों की कवि की एक अति-प्रसिद्ध रचना है। इसमें एक गुप्त प्रेम का वर्णन है।

५—वीरसिंह-चरितम्—विल्हण की एक ऐसी ही एक रचना 'वीर-सिंहचरितम्' है। यह चौरपञ्चाशिका जैसा ही गीतिकाव्य है। इसकी कथावस्तु चौरपञ्चाशिका से पूर्णतया मेल खाती है। अन्तर केवल इतना है कि चौरपञ्चाशिका की कहानी अपूर्ण है। और इसकी पूर्ण। इसकी पाण्डुलिपि सरस्वती भवन पुस्तकालय सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्व विद्या-लय वाराणसी में पूर्णतया सुरक्षित है जिसमें १३३ श्लोकों में यह काव्य प्रबन्धित है। इसके मध्यभागीय लगभग ५० श्लोक चौरपञ्चाशिका की ही तरह "अद्यापि" शब्द से प्रारम्भ हुये हैं। परन्तु केवल ६ श्लोकों को छोड़कर पूर्णतया भिन्न हैं। इसीलिये इसे एक अलग काव्य की संज्ञा देना उचित प्रतीत होता है।

इसकी अन्य पाण्डुलिपियाँ भी प्राप्त होती हैं।, जिनमें कश्मीर तथा दक्षिण भारत के दो पाठों में यह विल्हण काव्य नामक कविता में सन्निविष्ट है। इन पाठों के कथानक तो प्रायः समान हैं परन्तु कहीं-कहीं श्लोक भिन्नता है।

इस प्रकार निष्कर्षतः दोनों काव्यों के कथानक प्रायः एक ही हैं। विल्हण काव्य का सम्पादन श्री पी वेंकटराय शास्त्री मद्रास से हो चुका है। इसके दो पाठ मिलते हैं—एक कश्मीरी पाठ, दूसरा दक्षिणी पाठ। कश्मीरी पाठ की कथावस्तु "वीरसिंहचरितम्" से पूर्णतया मिलती है। उसके श्लोक भी समान हैं। परन्तु दक्षिणी पाठ की कथावस्तु एवं श्लोक पूर्णतया भिन्न हैं। साथ ही "वीरसिंह-चरितम्' तथा 'विल्हण काव्य,

के कश्मीरी पाठ में राजकुमारी 'अनहिलपत्तन के राजा 'वीरसिंह' की पुत्री 'शशिकला' थी ?[1] जब कि दक्षिणी पाठानुसार वह पाञ्चाल के 'मदनाभिराम' की पुत्री "पद्मिनी पूर्णतिलका" थी[2]।

सरस्वती भवन पुस्तकालय वाराणसी से प्राप्त पाण्डुलिपि के ७१ काश्मीरीय पाण्डुलिपि में भी यथावत् उपलब्ध हैं। वैसे कश्मीरीय पाठ में इनकी श्लोक संख्या ९२ हैं, जिनमें कुछ प्रक्षिप्त के रूप में अङ्कित हैं। सम्पूर्ण १३४ श्लोकों में प्रबन्धित "वीरसिंहचरितम्" की कथावस्तु इस प्रकार है।

अनहिल पत्तन के राजा वीरसिंह की पत्नी सुतारा के गर्भ से अत्यन्त सुन्दरी पुत्री शशिकला का जन्म होता है, जो शशिकलाओं की भांति बढ़ती हुयी शीघ्र ही युवती हो जाती है, और राजा को उसके अध्ययन की चिन्ता होने लगती है। सुना जाता है कि कश्मीर निवासी महाकवि विल्हण काव्यशास्त्र के अच्छे ज्ञाता हैं। सौभाग्य से भ्रमण करते हुये महाकवि विल्हण वीरसिंह उनका आदर सत्कार करते हैं। और उनकी 'ललितार्थ पदावली,, को सुनकर प्रसन्न होकर अपनी पुत्री शशिकला के

---

१. स्वर्गादपि विमलमण्डलखण्डतुल्ये, भूमण्डलेऽनहिलपत्तननामधेये।
वीराङ्गगुर्ज्जरजनैः परिसेव्यमानो, भोगी बभूव नृपतिः किल वीरसिंहः।
कालक्रमेण विमलां कमलासमानां, चन्द्राननां नयननिर्जित-पद्मपत्राम्।
चन्द्रोदयेऽथ नृपतेः किल पट्टराज्ञी, जज्ञे कलां शशिकलामिव सत्यनाम्नीम्।

२. पृथ्वीमण्डलेनाभिसूतजनकाद्रेरुत्तरस्यां दिशि,
प्रायः सज्जनसंघराजितमहापाञ्चालदेशोऽभवत्।
लक्ष्मीमन्दिरनामपट्टणमभून्नानासुखैकास्पदं,
तत्रासीन्मदनाभिरामनृपतिः भूपालचूड़ामणिः।
मन्दारमाला तस्यासीन्महिषी सुगुणा तयोः
यामिनीपूर्णतिलका तनया विनयोज्ज्वला॥

अध्यापन के लिये निवेदन कर ही देते हैं। विल्हण शशिकला को इतने प्रयत्न से पढाते हैं कि अस्पष्ट अक्षरों को बोलने वाली शशिकला थोड़े ही दिनों में विदुषी बन जाती है। जब शशिकला समस्त शास्त्रों का अध्ययन कर लेती है तो महाकवि उस शशिकला रूपी सरस्वती देवी को प्रसन्न करने के श्रृङ्गार सार गहन कामशास्त्र की शिक्षा देते हैं।

काम ने किसको छोड़ा है। एक तो शशिकलाओं की भाँति सुन्दरी शशिकला। दूसरे कामशास्त्र की शिक्षा। फिर भला कैसे न कामाग्नि प्रज्जवलित होगी। परिणामस्वरूप कवि और शशिकला के बीच जो नहीं होना चाहिये था, हो जाता है। यह प्रक्रिया अनेकशः चलती है। कवि उसे अनेकों प्रकार की कामकलाओं से प्रसन्न करता है, भिन्न-भिन्न आसनों से सन्तुष्टि प्रदान करता है। धीरे-धीरे यह वृत्तान्त राजा वीरसिंह को पता चल जाता है, तो वे कुछ निरीक्षण परीक्षण कर सत्यता से परिपुष्ट होकर विल्हण को शूली पर चढ़ाने का आदेश दे देते हैं। शूली पर चढाने के लिये ले जाते समय कवि को देखने को आतुर नगराङ्गनाओं की स्वाभाविक दशा का बड़ा ही मार्मिक वर्णन कवि ने प्रस्तुत किया है। अतः शूली के पास ले जाकर जल्लाद कवि से दुस्तर संसार सागर से पार होने के लिये भगवान् को स्मरण करने के लिये कहते हैं तो कवि भगवान् को याद न करके शशिकला और उसके साथ बिताये गये क्षणों को याद करने लगता है। यह वर्णन कवि ने ५१ श्लोकों में प्रस्तुत किया है। जिनकी मनोरमता, सरसता और सारगर्भिता अद्वितीय है। अन्त में उसके इस काव्यपाठ से प्रसन्न राजा कवि को मुक्ति प्रदान कर देते हैं और शशिकला को भी महाकवि को ही सौंप देते हैं।

वीरसिंहचरितम् की प्रामाणिकता—

सरस्वती भवन पुस्तकालय वाराणसी से प्राप्त वीरसिंहचरितम् की पाण्डुलिपि की प्रामाणिकता संदिग्ध है। यह पाण्डुलिपि यहाँ खण्डित

अवस्था में प्राप्त हुई है इस समस्त पाण्डुलिपि के पढ़ने से ज्ञात होता है कि यह किसी प्रतिष्ठित विद्वान् द्वारा लिखित नहीं है। इसमें प्राप्त शब्दगत त्रुटियाँ यह स्पष्ट करती हैं कि यह किसी अन्य पाण्डुलिपि की प्रतिलिपि है जो किसी सामान्य व्यक्ति द्वारा लिखी गयी है। अधिकांश स्थलों पर मात्रागत त्रुटियां, पूर्वरूप चिन्हों का अभाव एवं अस्पष्टता स्पष्ट द्रष्टव्य है। दो श्लोक तो पूरी तरह पढ़े ही न जा सके हैं, जिनको यों ही छोड़ दिया गया है। परन्तु उनके अभाव में काव्यत्व की हानि नहीं हुई है। पाण्डुलिपि की लिपि कुछ गुजराती है।

पाण्डुलिपि की शब्दगत त्रुटियों को देखकर तो ऐसा लगता है कि कि यह पाठ प्रामाणिक नहीं है। परन्तु पाण्डुलिपि एक ही छन्द में प्रबन्धित होने के कारण मूल नहीं तो किसी मूल पाण्डुलिपि की प्रतिलिपि तो अवश्य ही प्रतीत होती है, क्योंकि काश्मीरीय पाठ में अन्य छन्दों के श्लोक भी हैं जो अन्य लेखक द्वारा जोड़ दिये गये हैं तथा अन्य सभी श्लोकों की 'वीरसिंहचरितम्' से समानता होने के कारण 'वीरसिंह-चरितम्' की पाण्डुलिपि ही मूल प्रतीत होती है तथा तथ्य भी यही है कि यह पाण्डुलिपि किसी मूल पाण्डुलिपि की ही प्रतिलिपि है।

कहानी का घटनास्थल गुजरात है। यह तो पाण्डुलिपि से ही पूर्णतः विदित है क्योंकि अनहिलपत्तन नामक नगर में राजा वीरसिंह का होना बताया गया है।[१] अतः इसकी पाण्डुलिपि गुजरात में होनी चाहिये, परन्तु वहाँ यह कहानी दूसरे रूप में पात्रों के नाम परिवर्तन के साथ विद्यमान है, जिसमें विल्हण का प्रेम पाञ्चाल नरेश मदनाभिराम की पुत्री यामिनी पूर्णतिलका के साथ दर्शाया गया है। जिन पात्रों का

---

१ स्वर्गावेनी विमलमण्डलखण्डतुल्ये भूमण्डलेऽनहिलपत्तननामधेये।
वीराङ्गजजनैः परिसेव्यमानो भोगी बभूव नृपतिः किल वीरसिंहः॥

पञ्जाब नरेशों के इतिहास से कोई सम्बन्ध नहीं है। इधर 'वीरसिंह चरितम्" अथवा वीरसिंह से सम्बन्धित कहानी वाली पाण्डुलिपि उत्तर में प्राप्त होती है परन्तु ये राजा गुजरात के एक ऐतिहासिक राजा हैं। दक्षिण की घटना का उत्तर की पाण्डुलिपियों में प्राप्त होने का कारण राजा वीरसिंह की पुत्री से सम्बन्धित कथावस्तु है। हो सकता है कि दक्षिण में वीरसिंह की पुत्री से सम्बन्धित कथावस्तु है। हो सकता है कि दक्षिण में वीरसिंह के पारिवारिक जनों के भय से इसे उत्तर में ही लिखकर प्रसारित किया गया हो, जो भी 'वीरसिंहचरितम्' चौरपञ्चाशिका तथा विल्हणचरित का घटनास्थल और पात्र यदि अनहिलवाड़ के ही हैं तो वीरसिंह-चरितम् अधिक प्रामाणिक है तथा अन्य पाण्डुलिपियों की अपेक्षा इसकी कथावस्तु क्रमगत होने से यह अधिक प्रामाणिक प्रतीत होती है।

वीरसिंहचरितम् का कर्तृत्व एवं काल—

राजा वीरसिंह से सम्बन्धित कथा चौरपञ्चाशिका के औत्तराह्न पाठों में यथावत् सुरक्षित है। इस प्रकार यह कथा तीन रूपों में उपलब्ध है—१–चौरपञ्चाशिका २–विल्हणचरितम् ३–वीरसिंहचरितम्। प्रस्तुत पाण्डुलिपि वीरसिंहचरितम् एवम् औत्तराह्न पाठ तथा काश्मीरीय पाठ पूर्णतया समान हैं। कहीं कहीं शब्दों का हेर फेर है तथा छन्दों की भिन्नता है। वीरसिंहचरितम् में केवल एक ही प्रकार का छन्द है। इन अन्य पाठों में कहीं-कहीं छन्द-भिन्नता है तथा श्लोकसंख्या भी अधिक है। परन्तु चौरपञ्चाशिका जो श्री व्रजेन्द्र श्रीवास्तव द्वारा सम्पादित तथा अनूदित है उसमें वीरसिंह चरितम् के मात्र ४ श्लोक ही पूर्णतया प्राप्त होते हैं। शेष भिन्न हैं। अतः यह माना जा सकता है कि चौरपञ्चाशिका तथा वीरसिंहचरितम् के लेखक भिन्न-भिन्न कवि हों और वीरसिंहचरितम् के अन्त में 'इति श्री

विल्हणकृत काव्यम्' लिखा होने से इसके लेखक विल्हण ही प्रतीत होते हैं। साथ ही यह भी तथ्य है कि वीरसिंहचरितम् से सम्बन्धित कथा-वस्तु वाले सभी काव्यों का लेखक कोई एक ही कवि है वह फिर विल्हण हो अथवा कोई अन्य हो। हो सकता है कि एक ही कवि की रचनाओं को भिन्न भिन्न प्रकार से यत्र तत्र कुछ परिवर्तन के साथ लिख छोड़ा हो या फिर उस कवि ने ही श्लोकों में क्रमशः संशोधन किये हों।

वैसे चौरपञ्चाशिका के रचयिता के विषय में संस्कृत जगत् में पर्याप्त विवाद व्याप्त है। टीकाकार रामतर्क वागीश ने कहा है कि 'विद्या के साथ गुप्त प्रणय के कारण वीरसिंह ने चौरपल्ली के राजकुमार सुन्दर को मृत्युदण्ड दिया।' प्रस्तुत काव्य उसी के द्वारा की गयी कालिका की प्रार्थना है[1]। एक बंगला भाषान्तर में चौरपञ्चाशिका उसी सुन्दर नामक कवि की कृति बतलाई गयी है[2]। श्री दुर्गाशंकर के० शास्त्री चौरपञ्चा-शिका को विल्हण की रचना कदापि नहीं मानते। वे इसे चौर कवि की रचना स्वीकार करते हैं तथा इसका काल १४४५ विक्रम सम्वत् मानते हैं। अपने इस मत की पुष्टि में वे एक श्लोक उद्धृत करते हैं जो उनको चौरपञ्चाशिका की एक पाण्डुलिपि के अन्त में लिखा हुआ मिला है। जो इस प्रकार है—

श्रीमद्विक्रमधीरराजकुमुदः चन्द्रप्रकाशकृतः,
भूतं वेद युगञ्च चन्द्रसहितमब्दे गते संख्यया।
एतेऽब्दगतेऽपि चौरकविना काव्यं कृतं सम्प्रहः,
श्रीमत्पण्डितधोरसत्सुकविना श्रीभट्टपञ्चाननः॥

परन्तु पं० दुर्गाप्रसाद ने विल्हण और चौर कवि को एक ही स्वी-कार किया है। जबकि एक तेलगू लेखक ने अपने "विक्रमाङ्कदेव-

१. भारत चन्द्र के लेखक विद्यासुन्दर ने १८ वीं सदी में यह बात कही थी।
२. देखिये ए०एस०बी० ६५)

चरितम्" के समीक्षा में विल्हण और कवि को अलग-अलग प्रशंसा की है।[1]

डॉ० ब्हूलर के मतानुसार अनहिलवाड़ में राजा वीरसिंह तो हुए थे परन्तु वे ९२० ई० में ही स्वर्ग सिधार गये थे जबकि विल्हण का काल इससे १०० वर्ष बाद लगलग १०२० ई० है। इसके अतिरिक्त दाक्षिणात्य पाण्डुलिपि में वर्णित यामिनी पूर्णतिलका, मदनाभिराम तथा पान्चल-देश का इतिहास से कोई सम्बन्ध नहीं है तथा न ही 'विक्रमाङ्कदेव चरितम्' में विल्हण ने अपनी जन्मकथा के वर्णन प्रसङ्ग में इस तरह के प्रणय की कही चर्चा ही की है[2]। ब्हूलर के समान कीथ भी यह मानते हैं कि विल्हण के महाकाव्य में दी गयी कवि की आत्मकथा से यह पूर्णतः स्पष्ट है कि उन्होंने अपने जीवन में ऐसे किसी षड्यन्त्र में भाग नहीं लिया था। अतः सामान्यतया यही माना जा सकता है कि उन्होंने एक डाकुओं के सरदार तथा एक राजकुमारी के प्रेम का वर्णन डाकू को एक ऐसी परिस्थिति में रखकर किया है कि परम्परा डाकू के स्थान पर उन्हीं को समझ लेती है। वास्तव में कविता से यहो स्पष्ट होता है कि नायिका

---

१. देखिये पं० दुर्गाप्रसाद रचित कर्णसुन्दरी की भूमिका

2. There, Wag, No Doubt Aring ot Anhil vad Allcd vir Singh But he diedm 120 A.D. Onr Humdsld gears betosr Bilhan,s sral datr Tbesidrs the M.S.S exis timg in Ranta- ooantrg gitve diffesrnt names tor the daugh tes Madanbh-isam yamini Puona Tilara moir exes an mdentical ancedotr lstold of another Poet Chaus to Whom some M.S.S The whole Fanchashira is ascribed conto of Kihramanr Chari tom no mention of story is maoe imtrपduction to Vihran-anr Chorit. शुद्धिपत्र अन्त में

एक राजकुमारी थी। कवि के मृत्युक्षण का उल्लेख सम्भवतः एक प्रक्षिप्त पद्य में ही किया है। प्रस्तुत काव्य की लोकप्रियता ने उसके मूल पाठ को ही अधिक अनिश्चित सा बना दिया है। इस प्रकार कीथ महोदय भी चौरपञ्चाशिका को महाकवि विल्हण की ही रचना मानते हैं। जहाँ तक प्रामाणिकता की बात है सो अनिश्चित सा लगता है; क्योंकि इसकी तीन प्रकार की पाण्डुलिपियों में दो एक ही समान हैं तथा चौर-पञ्चाशिका के ५० श्लोक भिन्न प्रकार के हैं तथा कहानी यत्र तत्र पाठों में बिखरी हुयी है। परन्तु 'वीरसिंहचरितम्' में समस्त कहानी का एकत्र तथा क्रमिक प्रबन्धन, उसे मूलप्रति नही तो मूलप्रति की प्रति-कृति तो अवश्य ही सिद्ध करता है।

जो भी हो, चौरपञ्चाशिका के ५० श्लोक जो काशी संस्कृत ग्रन्थ-माला से प्रो० ब्रजेन्द्र श्रीवास्तव द्वारा सम्पादित तथा अनूदित हैं। सम्भवतः चौरकविकृत हों; क्यों कि ५० श्लोक वाली चौरपञ्चाशिका में कही भी विल्हण के नाम का उल्लेख नहीं है। अतः यह उनके परवर्ती कवि की रचना भी हो सकती है। परन्तु "वीरसिंहचरितम्" तथा उसके समान पाठों में स्पष्ट रूप से विल्हण का नाम आया है। अतः यह तथ्य इस रचना को महाकवि विल्हण से जोड़ देता है। जहाँ तक राजा वीर-सिंह और विल्हण के मध्य कालभेद की बात है। तो सम्भव है कि इस तरह की कोई घटना पूर्वकालीन राजा वीरसिंह से ही सम्बन्धित हो जिसकी कल्पना कर कवि ने यह काव्यविद्या की अधिष्ठात्री वाग्देवी सरस्वती की सिद्धि के लिये लिखा हो; जिसका प्रमाण कवि का प्रथम श्लोक है जिसमें कि श्री शारदा की स्तुति की गयी है तथा श्लोक संख्या १२ में तो शशिकला को स्पष्टतः मां शारदा ही कह दिया गया है।

ध्यात्वा गणेशमखिलागमसारभूतं
श्रीशारदां सुरनमस्कृतपादपद्माम् ।
किञ्चित्स्वकीयमतिसंस्फुरितेन नव्यं
काव्यं करोमि विदुषां सुख बोधनार्थम् ॥

मुक्तेन्दुकुन्दकुमुदस्फटिकावदाता
सर्वामरेन्द्रभुजगेन्द्रनरेन्द्रवन्द्या ।
मन्त्रार्थतन्त्रजननी जननी श्रुतीनां
श्री शारदास्तिविषये तत आगतोऽयम् ॥

इस प्रमाण से काव्य की काल्पनिकता असन्दिग्ध होकर यह पूर्णतः सिद्ध हो जाता है कि यह काव्य श्री शारदा की सिद्धि के कवि द्वारा की गयी शारदा की प्रार्थना है। जैसे कि महाकवि कालिदास ने काली की सिद्धि के लिये कुमारसम्भव की रचना की थी। उसी परम्परा में विल्हण का यह प्रयास है।

अतः काव्यरचना शैली में कालिदास का अनुकरण इस काव्य को महाकवि विल्हण से जोड़ देता है। क्योंकि 'वीरसिंहचरितम्' में अनेक स्थलों पर कालिदास के कुमारसम्भव का स्पष्ट अनुकरण दिखायी देता है। उदाहरणार्थ वीरसिंहचरितम् का निम्न श्लोक कुमारसम्भव के निम्नश्लोक से मिलाया जा सकता है।

चन्द्रानना सुरतकेलिगृहीतवस्त्रा
नेत्रे निरुध्य च करद्वितयेन तस्य ।
आरोप्य मञ्जुशयने परुषं ब्रुवाणा
सानन्दयत्कविवरं गुणसर्ज्जनेन ॥
(वीरसिंहचरितम्)

शूलिनः करद्वितयेन सा सन्निरुध्य नयने हृतांशुका ।
(कुमारसम्भव ८।७)

दोनों श्लोकों में सम्भोग के समय नायिका अपने दोनों हाथों से नायक के नेत्रों को ढक देती हैं, ताकि वह उसके वस्त्रविहीन कमनीय देहलता को देख न ले। दोनों ही स्थलों में समान भाव अभिव्यञ्जित है।

विल्हण का निम्न श्लोक भी कालिदास के श्लोक से पूर्णतः साम्य रखता है।

अद्यापि तां रहसि दर्पणमीक्षमाणां
सङ्क्रान्तिमत्प्रतिनिभं मयि पृष्ठलीने।
पश्यामि वेपथुमतीं च ससम्भ्रमां च
लज्जाकुलां समदनां वशविभ्रमांच ॥
(वीरसिंहचरितम्)

दर्पणे च परिभोगदर्शिनी पृष्ठतः प्रणयिनो निषेदुषः।
प्रेक्ष्य बिम्बमनुबिम्बमात्मनः कानि कानि न चकार लज्जया ॥
(कुमारसम्भव ८।११)

उपर्युक्त इन दोनों ही श्लोकों में एकान्त में सम्भोग चिह्नों को दर्पण में देखती हुयी प्रेयसी के पीछे अकस्मात् प्रियतम के उपस्थित हो जाने से दर्पण में प्रतिबिम्बित होने पर लज्जा के मारे पानी पानी हो जाना समान लज्जा का नाट्य है। अतः कलिदास का अनुकरण पूर्णरूपेण द्रष्टव्य है।

यही नहीं जैसे कालिदास के कुमारसम्भव ८।१७ में भगवान् शिव पार्वती के रतिकला शिक्षक माने गये हैं तथा सम्भोग के समय पार्वती अपने समस्त हावों भावों को अपने रतिगुरु को गुरुदक्षिणा के रूप में समर्पित कर देती हैं। ठीक उसी प्रकार वीरसिंहचरितम् में महाकवि विल्हण शशिकला के रतिकला शिक्षक हैं तथा शशिकला अपने रति-गुरु महाकवि विल्हण को गुरुदक्षिणा के रूप में स्वयं को ही समर्पित कर देती है।

शिष्यतां निधुवनोपदेशदेशिनः शङ्करस्य रहसि प्रपन्नया।
शिक्षितं युवति नेपुणं तया तत्तदेव गुरुदक्षिणीकृतम् ॥
(कुमारसम्भव ८।१७॥)

दोलेन तेन करणेन कवीरवरेण सा रम्यते शशिकला कुशला निशीथे ।
लावण्यसिन्धुमुदिता रुदितानि कृत्वा तस्मै समर्पितमहो गुरुदक्षिणायै ॥
(वीरसिंहचरितम्)

इसके अतिरिक्त अन्य अनेकों श्लोकों में मेघदूत का भाव-साम्य परिलक्षित है तथा शूली पर ले जाते समय कवि को देखने के लिये आतुर नगराङ्गनाओं के स्वाभाविक चित्रण में रघुवंश महाकाव्य का प्रभाव पूर्ण रूपेण द्रष्टव्य है। विस्तार के भय से यहाँ अधिक वर्णन नहीं किया जा सकता। इस प्रकार उक्त सभी तथ्य वीरसिंहचरितम् को महाकवि विल्हण की रचना सिद्ध कर देते हैं। क्योंकि कवि श्रीविल्हण ने अपने कर्णसुन्दरी नाटक के अन्त में "सद्यो यः पथि कालिदासवचसाम्" कहकर महाकवि कालिदास को अपना आदर्श बनाया है। अतः निसन्देह "वीरसिंह-चरितम्" महाकवि विल्हण की रचना है तथा ५० श्लोक चौरपञ्चाशिका भी उन्हीं की रचना मानी जा सकती है। परन्तु चौर-पञ्चाशिका के श्लोक कालिदास का उतना अनुकरण नहीं करते जितना कि वीरसिंहचरितम् के। अतः चौरपञ्चाशिका के विल्हणकृत होने में सन्देह हो सकता है परन्तु "वीरसिंह-चरितम्" में नहीं तथा कर्तृत्व निश्चित होने पर रचनाकाल भी निर्धारित हो जाता है क्योंकि विल्हण महाकवि १०८८ ई० पूर्व हुए थे। अतः यह काव्य उससे पूर्व १०६० में लिखा गया होगा।

वीरसिंह-चरितम् की विशेषताएँ

वीरसिंहचरितम् एक गीतिकाव्य है। शृङ्गारिक गीति काव्यों की परम्परा में इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसी से मेल खाते हुए ५० श्लोकों वाली चौरपञ्चाशिका प्रो० ब्रजेन्द्र श्रीवास्तव द्वारा अनूदित हो चुकी है, जिसके मात्र ४ श्लोक ही इसमें यथावत् उपलब्ध हैं। यह काव्य कहीं शशिकला विरहकाव्य, कहीं शशिकलाविरहप्रताप,

तो कहीं विल्हणकाव्य नाम से विख्यात है। संस्कृत में इस पर अनेकों टीकायें लिखी जा चुकी हैं। परन्तु इसके विवरण बिखरे हुए मिलते हैं। केवल "वीरसिंह-चरितम्" में ही समस्त कहानी एकत्र सङ्कलित है। अतः इसे ही प्रबन्धकाव्य की संज्ञा देना उचित है। सबसे बड़ी विशेषता तो ये है कि इसके श्लोक जितने मार्मिक, सजीव, एवं, प्रभावशाली हैं। उतने चौरपञ्चाशिका के नहीं। चौरपञ्चाशिका में वह श्लोक नहीं, जिसकी सरल, सुबोध, रोचक और सहज स्वाभाविक शैली में डा॰ कीथ को भी मन्त्रमुग्ध किये बिना नहीं छोड़ा। जो 'वीरसिंहचरितम्' में यथावत् है। देखिये—

अद्यापि तां रहसि दर्पणभीक्षमाणां
सङ्क्रान्तिमत्प्रतिनिभं मयि पृष्ठलीने।
पश्यामि वेपथुमतीं च ससम्भ्रमां च
लज्जाकुलां समदनां वशविभ्रमां च॥

इसमें कवि ने नारीस्वभाव का सजीव, मार्मिक, और सारगर्भित चित्र खींचा है। सम्भोगकालीन दन्तक्षत, नखक्षत के चिह्नों को दर्पण में देखती हुई शशिकला के पीछे सहसा कवि के आने पर उसके कांपने में स्वाभाविक लज्जा तो व्यञ्जित है ही, साथ ही अस्थिर मन होकर कामोत्कण्ठित होना भी व्यञ्जित है, जो नारी की स्वाभाविक प्रवृत्ति है।

वसन्ततिलका छन्दों में सुखमय प्रेम की अविस्मणीय अनुभूतियाँ सजीव होकर प्रेमान्ध मानस को शूली की असह्य वेदना को अग्रिम स्मृति से हटाकर सबसे प्रियतम वस्तु जीवन को भी तुच्छ बनाकर पुनः ऐसे स्थान पर लाकर खड़ा कर देती हैं; प्रत्यक्ष द्रष्टव्य शूली, जल्लाद और दर्शक जन सैलाव सभी दृश्यमान रहते हुए भी अदृश्य हो जाते हैं। तथा ऐसी सङ्कटवेला में उसे स्त्री, धन, पुत्र, परिवार तथा ईश्वर आदि कोई याद नहीं आते। याद आती है तो केवल विविध प्रकार से सम्भोग-

रत चन्द्रकलाओं की भांति सुन्दरी बालमृगलोचनी तन्वङ्गी शशिकला ही; भला कवि इसे कैसे भुला सकता है। ऐसी सङ्कट की घड़ी में भी इसे उसके साथ भोगे गये उन क्षणों की पुनः पुनः स्मृति हो रही है जब कि कभी वह उसके नीविबन्धन की ओर हाथ बढ़ा रहा था। कभी कुचग्रहण कर कपोलों पर दन्तक्षत करते समय उसके सीत्कारयुक्त वदन को देखकर मन्त्रमुग्ध हो रहा था। कहीं वह उसका अधरपान कर रहा था तो कहीं वह पुरूषायित हुई शशिकला की तीव्रश्वासों से असीम सुख की अनुभूति कर रहा था।

इस प्रकार लगभग ५१ श्लोकों में विरह-व्यथित कवि की विरह वेदना इतनी तीव्रतम हो गयी है कि उसे अपने जीवन के अन्तिम क्षणों का भी कोई आभास नहीं है। इस विरह-वेदना के वर्णन प्रसङ्ग में कवि ने सम्भोग सुखों को बड़ी ही मार्मिकता के साथ व्याख्यापित किया है। जहाँ नारी स्वभावों के वर्णन में तो कवि ने कोई कसर ही नहीं छोड़ी है। देखिये अपने ऊपर मड़राते हुए भ्रमर को हटाती हुई चन्द्रकला की स्वाभाविक दशा—

> अद्यापि तां सुरभिदुर्धरगन्धलोभा-
> द्धधन्तमास्यकमलं प्रति चञ्चरीकम्।
> किञ्चिल्लसच्चारुचकोरनेत्रां,
> पश्यामि केलिकमलेन निवारयन्तीम्॥

यहाँ दुर्धरगन्ध वाले चन्द्रकला के सुरभित मुख को कमल समझ कर दुर्धरगन्ध के लोभ से भौंरे का मड़राने और उसके काटने के भय से शशिकला द्वारा केलिकमल से उसको हटाने में एक स्वाभाविक नाट्य है।

परन्तु उस समय उस भ्रमर को केलिकमल से हटाती हुयी शशिकला के इधर-उधर घूमते हुये चारुचकोर नेत्रों की सुषमा ने कवि को इतना

आनन्दित कर दिया है कि जीवन के अन्तिम क्षणों में भी उस असीम सुख को नहीं भुलाना चाहता है।

देखिये एक अन्य स्थल पर प्रथम मिलन में नीवीवन्धन की ओर धीरे-धीरे कवि का हाथ बढ़ने पर प्रथम सङ्गम से उत्पन्न लज्जा से कांपती हुयी शशिकला का कितना मनोरम और स्वाभाविक चित्र खींचा गया है।

अद्यापि तां प्रथमसङ्गसज्जातलज्जां,
नीविं स्पृशत्यपि करे मम मन्दमन्दम्।
फूत्कारकम्पितशिखातरलं प्रदीपं,
कर्णोत्पलेन विजघांसुमहं स्मरामि॥

यहाँ कवि को उस समय की स्मृति हो रही है जबकि सर्वप्रथम शशिकला के नीतिबन्धन को खोलने के लिए उस कामातुर कवि का हाथ बढ़ा था, उस समय नीवि को छूते ही शशिकला के मुंह से 'नहीं' फूत्कार-पूर्ण शब्द सहसा निकल पड़ा था। उस समय शशिकला के चन्द्रमा के समान सुन्दर मुख के मुड़ने से प्रेमरूपी दीपक जो बुझना चाहता था उसे कर्णोत्पल ने बचा लिया।

इस श्लोक में महाकवि बिल्हण ने स्वाभाविक लज्जा का एक अद्भुत सारगर्भित एवं आलंकारिक वर्णन प्रस्तुत किया है। प्रथम मिलन में नीवि की ओर हाथ बढ़ते ही नायिका के मुख से फूत्कार के साथ नहीं 'नहीं' शब्द निकलना, लज्जा से मुंह को मोड़ना तथा मुख के मुड़ने से कपोलों पर क्रीड़ा करते हुये कर्णोत्पलों का दिखाई देना भी स्वाभाविक है। इसी तथ्य को कवि ने जिस अभूतपूर्व कल्पना के साथ प्रस्तुत किया है वह अप्रतिम है। यहाँ मुख में दीपक की कल्पना की गयी है जिसके सौन्दर्य से प्रेम का प्रकाश होता है तथा हवा से दीपक बुझ जाता है। नहीं-नहीं फूत्कार के साथ मुख के मुड़ने में हवा से दीपक का बुझना

परिकल्पित है तथा जैसे कोई हाथ लगाकर हवा से बुझते हुये दीपक को बचा ले। उसी तरह उसके कर्णोत्पल ने मुखरूपी दीपक को बचा लिया। क्योंकि मुख के सौन्दर्य से ही प्रेम का प्रकाश हो रहा था। अब उतना ही सौन्दर्य कर्णोत्पल के कपोलों पर आ जाने से था। अतः प्रेम का प्रकाश कम नहीं हुआ। क्योंकि कपोल पर क्रीड़ा करते हुये कर्णोत्पल सौन्दर्य अवर्णनीय होता है।

कवि ने यहाँ अत्यन्त सूक्ष्म, मनोरम एवं स्वाभाविक वर्णन कर अपने काव्य के गौरव और उच्च कवित्व को प्रतिस्थापित किया है।

कवि श्रीविल्हण के प्रत्येक पद्य का भाव नूतन ध्वनियों से भरपूर है। भावों को गम्भीरता, आत्मानुभूति, की सहज संवेदना, शैली की स्निग्धता आदि अनेक गुण सहृदय पाठक को मन्त्रमुग्ध किये विना नहीं छोड़ते।

प्रणय में कलह भी होता है परन्तु उसमें कलह में परस्पर हितभावना का अन्तर्निहित होना अनिवार्य है अन्यथा वह मान मान न होकर परस्पर शत्रुता का द्योतक है। मान में भी नायिका अपने प्रियतम का अपकार नहीं चाहती परीक्षा की इस विचित्र घड़ी में भी वह किस प्रकार अपने कृत्रिम कोप को बनाये रखकर प्रियतम के प्रति अपनी हितभावना प्रकट करती है। इसका एक दृश्य इस पद्य में देखिये—

अद्यापि तन्मनसि सम्परिवर्तते,
रात्रौ मयि क्षुतवति क्षितिपालपुत्र्या।
जीवेति मङ्गलवचः परिहृत्य कोपात्,
कर्णे कृतं कनकपत्रमनालपङ्क्त्या ॥

यहाँ मानकाल में जब शशिकला ने अपने आभूषणों को उतार फेंका था उस समय रात्रि में कवि द्वारा मनाते समय छींक आने पर अमङ्गल के निवारण के लिये क्रोध के कारण 'जीव' इस वचन का उच्चारण न

करके उतारे हुये सुवर्णपत्र को अपने कान में धारण कर लिया था। क्योंकि आभूषण उतारना सुहाग के लिये अनिष्ठ सूचक है। साथ ही ऐसे समय छींक आना तो और भी अनिष्टता का सूचक है; परन्तु इस अनिष्ट का निवारण कैसे करे "जीव" यह शब्द कहना चाहिये था परन्तु कहने में मानहानि होती है; परन्तु उस समय उसको बुद्धि ने काम दिया कि उसने उतारे हुये कनकपत्र को पुनः धारण कर लिया क्योंकि स्वर्ण सौभाग्य का सूचक है। इस श्लोक में कवि ने जिस मनोरम ढंग से शृङ्गारिक घटना का चित्रित किया है वह वास्तव में स्तुत्य है।

इन उदाहरणों से यह पूर्ण रूपेण सिद्ध होता है कि कवि की काव्य-प्रतिभा उच्चकोटि की थी। उनके वर्णनों में सहज स्वाभाविकता, मार्मिकता और अनुभूति की सघनता स्पष्टतः परिलक्षित है। शूली पर चढ़ाने हेतु जल्लादों द्वारा ले जाते हुये विल्हण को देखने के लिये आतुर नगराङ्गनाओं के गमन की स्वाभाविकता को जिस तकनीकी के साथ महाकवि विल्हण ने प्रस्तुत किया है; वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। सौन्दर्य वर्णन में भी कवि किसी से पीछे नहीं "वीरसिंह-चरितम्" के प्रारम्भिक श्लोक इसके सबल प्रमाण हैं।

कामशास्त्रीय ज्ञान का परिचय कवि ने इस काव्य में बड़ी कुशलता से दिया है। नखशिख वर्णन, सुरतव्यापार, रतिकला, नखक्षत, दन्तक्षत आदि का वर्णन बड़ी ही सुन्दर रीति से किया गया है। सम्भोग-साफल्य के लिये कुछ आवश्यक कामकलाओं पर एक काव्यात्मक शैली में प्रकाश डालकर कवि ने एक नवीन विद्या का सूत्रपात्र किया है तथा ऐसा कर उसे और अधिक रोचक बना दिया है जो अन्यत्र दुर्लभ है।

इस प्रकार यह प्रमाणित होता है कि विल्हण की काव्य प्रतिभा उच्चकोटि की हैं। उनके वर्णन बड़े सरल, स्वाभाविक और संवेदनशील हैं इनकी शैली प्रचलित शैलियों से सर्वथा भिन्न है। वे वैदर्भी

शैली का अनुसरण करते हैं। यह अत्यन्त सरल आडम्बर-हीन और गति काव्योचित है। उनके इन गुणों के कारण डा० ब्हूलर को यह कहना ही पड़ा कि विल्हण के पद्य सरल और सङ्गीतमय हैं। तथा उनकी भाषा सरल है।[१]

एक कवि के रूप में वे अधिक सफल हैं। उनकी भाषा साधारणतया सरल एवं स्पष्ट है। उनका शब्द-विन्यास भी प्रायः शुद्ध है। अलङ्कारों के प्रयोग में भी वे किसी से पीछे नहीं। यह तो पहले ही वताया जा चुका है कि वे कालिदास के अनुकर्ता हैं। इन्होंने यहाँ मेघदूत का अनुसरण किया है। क्योंकि दोनों में विप्रलम्भ शृंङ्गार की व्यञ्जना है सम्भोग शृङ्गार के वर्णन के क्षेत्र में "कुमारसम्भव" का भी अनुकरण करते दिखायी देते हैं। कभी कभी ये अभिज्ञान-शाकुन्तल की नायिका शकुन्तला के समान अपनी नायिका का चित्रण करने लगते हैं। कुल मिलाकर इन्होंने कालिदास का अनुसरण किया है।[२]

इन्होंने अपने इस काव्य में मेघदूत का अनुकरण तो किया है परन्तु उसमें चित्रित प्रकृति-चित्रण को छुआ तक नहीं है। भर्तृहरि और अमरुक की सूक्ष्म काव्य-प्रतिभा का अभाव भी इसमें पाया जाता है।

इसमें वर्ण्य विषय का क्षेत्र इतना सङ्कुचित है कि समस्त रचना नायिका के शृङ्गार चेष्टाओं, भावभङ्गिमाओं, सुरतक्रीड़ाओं के इधर

१. His composition deserve to rescued from oblivion.....
he Pessasse a rpark of poetical fire, Realy beautiful passages occure in evry canto. Bilhan,s verse in flowing and musical and lenguale simlole,,

२. सद्यो यः पथि कालिदासवचसाम्।
कर्णसुन्दरी के अन्त में एक कामशास्त्रीय शृङ्गार काव्य।

उधर ही भ्रमण करती हुयी दिखाई देती है। जो गीति काव्योचित है। क्योंकि पाठक को अन्यमनस्क एवं ऊबने का अवसर ही नहीं प्रदान करती।

शृङ्गार रस को रसराज मानना संस्कृत कवियों की एक परम्परा रही है। शृङ्गार के दोनों पक्ष सम्भोग और विप्रलम्भ मानव-जीवन के अभिन्न अङ्ग हैं। सभी रस मानव-जीवन से सम्बन्धित हैं। परन्तु शृङ्गार सबका मूल है। शृङ्गार को अनेक नामों से सम्बोधित किया जाता है, कोई इसे प्रेम कहता है, तो कोई कामोन्माद कहता है; परन्तु सबसे अच्छी परिभाषा साहित्यदर्पणकार ने की है। "पुंसः स्त्रियां प्रति स्त्रियाः पुंस प्रति या स्पृहा शृङ्गार इति ख्यातः" अर्थात् पुरुष को स्त्री के प्रति और स्त्री की पुरुष के प्रति जो सम्भोग की इच्छा है वही शृङ्गार है। यह सम्भोगेच्छा ही एक शक्ति है तथा काव्य के समस्त रसों का कारण-भूत है। यही काम कहा जा सकता है, तथा यह काम ही सृष्टि का मूल है। यह मानव को जीवन देता है, जीना सिखाता है और जीने को बाध्य करता है। इसीलिये तो इसमें इतना आकर्षण है। कौन बचा है, इसके प्रहारों से। बलवान्, विद्वान्, धनी, निर्धन, राजा, रङ्क सभी को इसने पराजित कर दिया। चाहे अतीत में झांकिये, चाहे वर्तमान को टटोलिये, चाहे भविष्य की कल्पना कीजिये सभी जगह इसी की प्रशस्तिगाथायें सुनने को मिलेंगी। आदिदेव ब्रह्मा को भी इसने नहीं छोड़ता कैसे? यदि छोड़ देता तो सृष्टि कैसे होती? परन्तु वे तो अपनी पुत्री सरस्वती पर ही मोहित हो गये। शङ्कर ने इसे भस्म ता अवश्य कर दिया परन्तु जीत इसी की हुई। शङ्कर को बालमृगलोचनी चन्द्रमुखी पार्वती के समक्ष झुकना ही पड़ा। अशरीरी होने पर तो ये हाल है यदि शरीर होता तो क्या करता?

काम का दूसरा नाम प्रेम है; जो स्वाभाविक है। प्रेम की गङ्गा बही थी, बह रही है और बहती रहेगी और तन्मयता और एकरसता के साथ

बहती हुई परमात्मा रूपी सागर तक पहुँच ही जायेगी। सम्भोग अपरिहार्य है। उसके बिना सृष्टि का क्रम नहीं चल सकता। उसकी उपेक्षा मानव के विकास को रोकना है। उसे दबाना मानसिक शारीरिक अथवा आर्थिक विकृति को जन्म देना है। आयुर्वेद में यह स्पष्ट उल्लेख है कि यदि सम्भोगेच्छा को दबाया जायेगा तो प्रमेह जैसे भयङ्कर वीर्यरोग उत्पन्न हो जायेंगे। इसे दबाने के कारण ही मानव इतना कामुक हो गया है कि नारी की परछांई से ही उत्तेजित हो उठता है।

परन्तु जहाँ दमन नहीं, वहाँ उतनी आसक्ति नहीं। देखिये पशुओं को, वस्त्रविहीन घूमते हैं, फिर भी समय पर ही सम्भोगरत होते हैं; परन्तु मनुष्य का कोई समय नहीं तथा यदि वह वस्त्रविहीन नारी को देख ले फिर तो कहना ही क्या? क्योंकि वह भड़क गया अप्राकृतिक दमन से। सबसे बड़ा विष तो 'ब्रह्मचर्येण देवाः मृत्युमपाघ्नत' जैसे वाक्य बोलकर शास्त्रों ने घोला है। ब्रह्मचर्य यदि सम्भोग विरक्ति है तब तो वह असम्भव है। महान् विचारक साहित्यकार अनातोले का ब्रह्मचर्य के विषय में कथन है कि वास्तव में कोई व्यक्ति ब्रह्मचारी या संयमी है ही नहीं। वह या तो रोगी है या अक्षम है या फिर पागल है। यौन-सहवास सहज और स्वाभाविक है। उसे कदापि दबाया नहीं जा सकता। उसका दमन जीवन विरोधी प्रवृत्ति है।

अपने सर्वतः प्रकृति में जो कुछ हो रहा है। ये पुष्पों का विकसन, ये पक्षियों के कलरव, ये बहारें, ये निखार, ये मनोरम छटा, ये सौन्दर्य, ये सब प्रेम की ही अभिव्यक्तियाँ है। मानव उससे परे नहीं है। उसके बिना उसके अस्तित्व ही नहीं। उसकी सृष्टि ही नहीं होगी। अतः ऐसे इस पवित्र काम को यदि मानव पाप की संज्ञा देता है, तो वह अपने अस्तित्व को नकारता है, अपने स्रष्टा को गाली देता है। परन्तु इधर संस्कृति धर्म साधु सन्यासी कहीं-कहीं काम को पाप कह कर जनमानस को दूषित

कर रहे है। वे व्यर्थ ही काम से काम को लड़ा रहे हैं। अपने तो काम को जीत नहीं सके दूसरों को मूर्ख बना रहे हैं। इसीलिये आदमी और अधिक कामुक होता जा रहा है और निरन्तर उसी का चक्कर काट रहा है। इसको लोग समझ नहीं पाये। सम्भोग के कुछ क्षण चरम आनन्द की परिणति है। परमानन्द सहोदर सुख की अनुभूति हैं। अतः वे क्षण कदापि उपेक्षणीय नहीं।

इस तथ्य को जिसने समझा वह महान् बना। इस रत्नाकर में जो जितना गहरा गया वह उतना ही बहुमूल्य रत्न निकाल कर लाया। महाकवि कालिदास इस सागर के सबसे बड़े गोताखोर हैं। वे ही उस शक्ति के सबसे बड़े समुपासक हैं। कोई माने या न माने, उनकी साहित्य-साधना की सम्प्रेरिका सम्भोग साधना है। क्योंकि विच्छू जिसको काटता है पीडा उसी को होती है तथा वही उस पीड़ा को व्याख्यायित भी कर सकता है जिसको प्रेम के विच्छू ने काटा ही नही वह क्या जाने प्रेमकीडा को। जब वही नही जानता तो दूसरों को कैसे बता सकता है। मैं तो समझता हूँ कि इसी साधना में उन्होंने उसअसीम को देखा और सिद्धि प्राप्त की। कुमारसम्भव इसी का परिणाम है। उन्होंने इस मर्म को जाना तभी तो उस समय समाज में व्याप्त कामुकता को शङ्कर-पार्वती के प्रेम के रूप में चित्रित करके उसमें श्रद्धा भावना को प्रतिष्ठित कर दिया। वे उस रत्नाकर में पूर्ण निमग्न हो बहुमूल्य रत्न निकालने में सफल हुये।

अतः यह मानना होगा कि काम जीवन का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। इसी को लक्ष्य कर कालिदास के अनुकर्त्ता महाकवि विल्हण ने शिष्टता से हटकर भी उक्त काव्य लिख डाला। वैसे शृङ्गारशिरोमणि महाकवि कालिदास ने भी सम्भोग और विप्रलम्भ दोनों पर अपनी विजयपताका फहराई है परन्तु सम्भोग के क्षेत्र में उनसे आगे नहीं तो पीछे भी नहीं हैं तथा ताड़पत्रों कर रोमाण्टिक वर्णनों के क्षेत्र में विल्हण को कालि-

दास से आगे स्वीकार किया है।[१] कीथ ने भी विल्हण काव्य की सफल वैदर्भी रीति तथा शृङ्गार के नग्न वर्णन को लोकप्रियता का कारण माना है।[२] यह तो मानना होगा कि कालिदास ही विल्हण के प्रेरक हैं तथा भावों का गाम्भीर्य और प्रकृति की सजीवता को देखते हुये उनका मेघदूत अन्यतम कृति है, तथापि शृङ्गार के क्षेत्र में विल्हण भी कम नहीं हैं।

सम्भोग और विप्रलम्भ को लेकर काव्य तो अनेक लिखे गये परन्तु सम्भोग की तकनीकों पर प्रकाश डालते हुये कोई भी काव्य नहीं लिखा गया। सम्भोग का खुला वर्णन कालिदास के कुमार-सम्भव में भी है परन्तु उसमें सम्भोग की तकनीकों पर प्रकाश नहीं डाला गया है। विल्हण की यही विशेषता है कि वे उस रस में इतने निमग्न हो गये हैं कि वे क्या कह रहे हैं, कहाँ कह रहे हैं यह स्वयं नहीं जानते। उन्होंने अपने इस काव्य में शिष्टता से परे हटकर भी सम्भोग की तकनीकों पर प्रकाश डाला है।

आज तक कामशास्त्र पर ग्रन्थ तो बहुत लिखे गये; जिनमें दाम्पत्य जीवन के व्यावहारिक पहलुओं एवं कामकलाओं पर स्पष्ट प्रकाश डाला गया जिनका अध्ययन सुखमय एवं सन्तुष्टिपूर्ण दाम्पत्य जीवन के लिये अनिवार्य है। परन्तु शास्त्रों एवं काव्य के अध्ययन में बहुत अन्तर है। जैसा कि साहित्यदर्पणकार आचार्य विश्वनाथ ने कहा है कि काव्य से अल्पबुद्धि वालों को भी आसानी से कर्तव्याकर्तव्य का ज्ञान हो जाता है[३]

---

१. The backgrauud, tco attoching Pamchoshika is more vird anc romantic that of Megha Dut Introduction to Chaur Panchashiky by Tadpatsikar

२. संस्कृत साहित्य का इतिहास (कीथ) पृष्ठ १२०

३. साहित्यदर्पण

मनुष्य को राम के समान आचरण करना चाहिए रावण के समान नहीं, ऐसा ज्ञान वेदशास्त्रों से भी सम्भव है परन्तु वह साधारणजनों के लिये आसानी से सम्भव नहीं है अर्थात् काव्य का उपदेश 'कान्तासम्मितयोप-देशयुजे' बतलाया है[४] अर्थात् काव्य का उपदेश कान्ता उपदेशतुल्य होता है। जैसे प्रियतमा अपने प्रियतम को प्रेमपूर्वक सहलाती हुयी, अधरामृत-पान कराती हुयी, जो भी कहती है, वह प्रियतम को सदा सदा के लिये अविस्मरणीय हो जाता है। इसीलिये लोग माता पिता और गुरुओं द्वारा दी गयीं उच्चतम शिक्षाओं को सुहागरात के प्रथम उपदेश के पीछे छोड़ देते हैं अतः अल्पबुद्धि वालों को सरलता से उपदेश देने में काव्य की अवर्णनीय भूमिका है।

शास्त्र तो अनेक है परन्तु सुखमय दाम्पत्य जीवन के लिये कामशास्त्र का सर्वाधिक महत्त्व है। क्योंकि मानव के लिये जितनी अनिवार्यता सम्भोग का है उतनी ही उसके साफल्य की है। नारी सन्तुष्टि के अभाव में पुरुष के पुरुषत्व पर प्रश्नचिन्ह लग जाता है। इसीलिये पुरुष के लिये काम-कलाओं का ज्ञान नितान्त आवश्यक है तथा अपने प्रियतम को पूर्ण सुख प्रदान करने के लिये नारियों को भी यह उतना ही आवश्यक है। ताकि वे दोनों परस्पर पूर्ण परितुष्ट हो अपने दाम्पत्य-जीवन को सुखपूर्वक व्यतीत कर सके। यही सब ज्ञान महाकवि विल्हण ने अपने इस शृङ्गार काव्य में प्रस्तुत किया है। कवि ने कैसे कैसे कामकलाओं से, सम्भोग आसनों से चन्द्रकला को सन्तुष्ट किया और फिर अन्त में कैसे कामदेव के मन्दिर पर विजयपताका फहरायी। ये सभी वर्णन बड़ी ही कुशलता से प्रस्तुत किये गये हैं जिनको काव्यात्मक रूप देना एक नयी विधा की शुरुआत है। कामशास्त्र और शृङ्गार काव्य का मणि-काञ्चन संयोग है। एक तो शृङ्गार दूसरे कामशास्त्र पर आधारित

---

४. काव्य प्रकाश प्रथम उल्लास

ऐसा कर कवि ने "स्वर्णे सुगन्धः" कार्य किया है। पढ़ने पर पाठक को रुचि का शनैः शनैः आकर्षण कवि की कुशलता है। अतः जो सहृदय व्यक्ति इसका पढ़ना प्रारम्भ कर देगा वह अन्त करके ही दम लेगा यह मेरा दावा हैं। साथ ही पाठक यदि इसका अनुसरण करेगा तो अपने दाम्पत्य जीवन को सुखमय बनाने में अवश्य सफल होगा तथा जैसे महाकवि ने उक्त काव्य द्वारा वन्दनीय सरस्वती सम चन्द्रकला की सिद्धि प्राप्त की उसी प्रकार पाठक सरस्वती की नहीं तो अपनी प्राणेश्वरी गृहलक्ष्मी की सिद्धि तो अवश्य ही कर लेगा। अतः काव्य के प्रथम वन्द्य अखिलागमों के सारभूत श्री गणेश को तथा सुरनमस्कृतपदपद्म सरस्वती को और श्री सरस्वती के प्रीणनार्थ लिखे गये इस काव्य के प्रणेता महाकवि विल्हण को गुरुजनों तथा समस्त सहृदय पाठकों को इस कृति के साफल्य के लिये मेरा शतशः प्रणाम है।

श्री गणेशाय नमः

ध्यात्वा गणेशमखिलागमसारभूतं
श्रीशारदां सुरनमस्कृतपादपद्माम् ।
किञ्चित्स्वकीयमतिसंस्फुरितेन नव्यं
काव्यं करोमि विदुषां सुखबोधनार्थम् ॥ १ ॥

अन्वयः—अखिलागमसारभूतं गणेशं सुरनमस्कृतपादपद्मां श्रीशारदां ध्यात्वा स्वकीयमतिसंस्फुरितेन किञ्चित् नव्यं काव्यं करोमि ॥ १ ॥

अनुवाद :—अखिल आगमों के सारभुत गणेश तथा समस्त देवों द्वारा नमस्कृत चरण कमलों वाली श्री सरस्वती देवी का ध्यान करके अपनी बुद्धि में उत्पन्न संस्फुरण से विद्वानों को सुख की अनुभूति कराने के लिये किसी नवीन काव्य की रचना कर रहा हूँ ॥ १ ॥

व्याख्या—जैसी कि चिरकाल से परम्परा रही है कि प्रत्येक कवि अपने काव्य के प्रारम्भ में अपने आराध्य देव की आराधना करता रहा है । इसी परम्परा का निर्वाह करते हुए कवि श्री विल्हण सर्वप्रथम समस्त शास्त्रों के सारस्वरूप गणेश तथा विद्या की अधिष्ठात्री मां सरस्वती की आराधना करते हैं । गणेश को बुद्धि का देवता भी माना जाता है । इसीलिये प्रत्येक महत्त्वपूर्ण कार्य में इनका आह्वान किया जाता है तथा काव्य में तो इनकी आराधना और भी आवश्यक है क्योंकि ऋग्वेद में इन्हें कवियों का 'उपस्रवस्तम' कहा गया है "कविः कवीनामुपस्रवस्तमम्"[1] । दूसरा आह्वान वीणावादिनी माँ सरस्वती का है जो विद्या और संगीत की अधिष्ठात्री देवी मानी जाती हैं । इस प्रकार काव्य के प्रारम्भ में इन दोनों की आराधना से काव्य की अर्थगम्भीरता और सरसता की

---

१. ऋग्वेद २।२३।१

प्रार्थना स्पष्ट परिलक्षित है। प्रारम्भ में गणेश का ध्यान काव्य में उत्पन्न विघ्ननिवारण के लिये उचित ही है क्योंकि गणेशजी विघ्न-निवारक माने जाते हैं। अतः इस श्लोक में कवि द्वारा काव्य की निर्विघ्न सम्पन्नता और सर्वोत्कृष्टता की कामना स्पष्ट रूप से प्रतिध्वनित है। **"किञ्चित्स्वकीयमतिसंस्फुरितेन"** समस्त पद काव्य के हेतु पर प्रकाश डालता है। क्योंकि बुद्धि में स्फुरण से तात्पर्य कवित्व बीजरूप शक्ति है जिसे दूसरे शब्दों में प्रतिभा कहा जाता है यह प्रतिभा ही मानव को काव्य की प्रेरणा देती है। इसके अभाव में कोई कवि नहीं बन सकता। इसीलिये काव्यप्रकाशकार मम्मट ने इसे प्रमुख काव्यहेतु माना है।[1] अग्निपुराण में कवित्व को दुर्लभ कहा गया है।

कवित्वं दुर्लभं तत्र शक्तिस्तत्र सुदुर्लभा।

वास्तव में यह शक्ति दुर्लभ ही है। यह जन्मजात होती है। बलात् कोई इसे प्राप्त करना चाहे नहीं कर सकता। उसी की बुद्धि में स्फुरण होता है जिसमें यह शक्ति होती है।

श्लोक में आया **"सुखबोधनार्थं"** समस्त पद काव्य के प्रयोजन पर प्रकाश डालता है क्योंकि काव्य की आत्मा रस है तथा इस का अर्थ सुखानुभूति तभी सम्भव है जब कि उसका अर्थ सहृदयों द्वारा श्लाघ्य हो। परन्तु अर्थ समझने की क्षमता विद्वानों में ही होती है अतः यहाँ प्रयुक्त **"विदुषां सुखबोधनार्थम्"** पद कामना परिलक्षित है। वह चाहता है कि उसकी यह काव्य कृति सहृदयश्लाघ्य बने क्योंकि ध्वनालोककार आनन्दवर्धन के मतानुसार काव्य वही है जिसका अर्थ सहृदयश्लाघ्य हो तथा यही काव्य की आत्मा माना गया है।

योऽर्थो सहृदयश्लाघ्यः काव्यस्यात्मा व्यवस्थितः।[2]

---

१. शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात्।
काव्यज्ञशिक्षाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे॥ काव्यप्रकाश १।३

२. ध्वन्यालोक १।२

उपर्युक्त पद इस काव्य की क्लिष्टता को भी प्रदर्शित करता है क्योंकि यह केवल 'विदुषां सुखबोधनार्थं' है। साधारण जन की समझ से परे है। वास्तविकता भी यही है काव्य कुछ कठिन तो अवश्य है परन्तु समझने पर अभूतपूर्व आनन्द की अनुभूति कराता है।

श्लोक में प्रयुक्त "किञ्चित् नव्यं काव्यम्" पद काव्य की नवीनता को ध्वनित करता है। वास्तव में काव्य में एक नवीन काव्य-धारा का दिग्दर्शन होता है। क्योंकि यह कामशास्त्रीय शृङ्गार काव्य है। शृंगार काव्य तो बहुत लिखे गये हैं परन्तु यह एक अपने प्रकार का अनूठा काव्य है। शृङ्गार के दोनों पक्ष संयोग और वियोग तो इसमें है ही साथ ही इन वर्णनों के क्रम में कवि ने काव्यशास्त्र के अत्यन्त गूढ तत्त्व पर भी प्रकाश डाला है। इस प्रकार इसे यदि एक नवीन काव्य कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी। कवि का यह श्लोक वसन्ततिलका छन्द में प्रबन्धित है।

"उक्ता वसन्ततिलका तभजाजगौग:"।

अर्थात् जहाँ पर तगण, भगण, दो जगण तथा अन्त में दो दो गुरु होते हैं। वहाँ वसन्ततिलका छन्द होता हैं।

S S I S I I ! S I I S I S S
ध्यात्वा गणेशमखिलागम सारभूत,

S S I S I I I S I I S I S S
श्री शारदासुरनमस्कृतपादपद्मास्।

S S I S I I I S I I S I S S
किञ्चिस्वकीय-मति संस्फुरितेन नव्यं,

S S I S I I I S I I S I S S
कार्व्यं करोमि विदुषां सुखबोधनार्थम् ॥

इसी प्रकार आगे के सभी श्लोक भी इसी छन्द में प्रबन्धित हैं।

स्वर्गावनीविमलमण्डलखण्डतुल्ये,
भूमण्डलेऽनहिलपत्तननामधेये ।
वीराङ्गगुर्ज्जरजनैः परिसेव्यमाने,
भोगी बभूव नृपतिः किल वीरसिंहः ॥ २ ॥

अन्वय :—वीराङ्गगुर्ज्जरजनैः परिसेव्यमाने, स्वर्गावनीविमल मण्डलखण्डतुल्ये अनहिलपत्तननामधेये भूमण्डले नृपतिः वीरसिंहः भोगी बभूव किल ॥२॥

अनुवाद :—गुजरात निवासी बहादुर गूजरों से परिसेवित, स्वर्गभूमि के स्वच्छ मण्डलखण्ड के समान, अनहिलपत्तन नाम के भूखण्ड पर महाराजा वीरसिंह उस स्वर्ग सुख के भोग करने वाले हुये ॥२॥

व्याख्या :—स्वर्गावनी के स्थान पर स्वर्गावलि भी पाठ पाया जाता है। परन्तु स्वर्गावनी ही अधिक उचित है। वैसे स्वर्गावलि भी लाया जा सकता है।

अनहिलपत्तन नामक नगर गुजरात में है जिसे अणहिलवाड़ के नाम से आज भी पुकारा जाता है विक्रमाङ्कदेवचरित में कहा गया है कि महाकवि बिल्हण उस नगर में गये थे और वहाँ के राजा चौलुक्य कर्णदेव त्रैलोक्यमल के पास रहे थे[1]। सम्भवतः यही पर इन्होंने इस काव्य की रचना की हो तथा घटना इसी स्थान की हो ॥२॥

चत्वार एव निजधर्मरता सदैव
वर्णाश्च यत्र नगरे रजनीकरास्याः ।
चञ्चद्गवाक्षपथवीक्षणदृश्यवक्त्रैः
चन्द्रोदयं प्रकटयन्ति दिनेऽपि नार्यः ॥ ३ ॥

अन्वय :—यत्र नगरे चत्वारः वर्णाः सदैव निजधर्मरता एव (यत्र)

---

१. विक्रमाङ्क देवचरितम् १०६४।९४

च रजनीकरास्याः नार्यः चञ्चद्‌गवाक्षपथवीक्षणदृश्यवक्त्रैः दिनेऽपि चन्द्रो-दयं प्रकटयन्ति ॥३॥

अनुवाद :—जहाँ नगर में ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य एवं शूद्र चारों ही वर्ण सदैव अपने अपने धर्म के पालन में लगे रहते थे तथा चन्द्रमुखी नारियां चमकती हुयी खिड़की के झरोखे के मार्ग से दिखायी देनेवाले झरोखों के द्वारा दिन में भी चन्द्रोदय का अभास कराती थीं ॥३॥

व्याख्या :—प्रस्तुत श्लोक में महाराज वीरसिंह की समुचित राज्य व्यवस्था पर प्रकाश डालते हुये नगरस्थ नारियों के अप्रतिम सौन्दर्य को दर्शाया गया है। झरोखों से झांकने वाली सुन्दरियों के मुखों से दिन में भी चन्द्रोदय की भ्रांति की कल्पना निस्सन्देह मनोरम है।

कवि ने यहाँ की नारियों को केवल रजनीकरास्याः अर्थात् चन्द्र-मुखी ही नहीं कहा अपितु चन्द्रमा ही कह दिया। उनके मुख चन्द्रमा से इतनी अधिक समता रखते थे कि झरोखे से देखने पर लोगों को दिन में चन्द्रमा की भ्रान्ति हो जाती थी। मुख में चन्द्रभ्रान्ति होने के कारण' यहाँ भ्रान्तिमान् अलंकार है। तथा रजनीकरास्याः में रूपक है ॥३॥

यो वैरिवरवीरवारणदर्पसिंहो,
विद्याविनोदविविधाभिरसः कलावान्।
गाम्भीर्यवीर्यगुरुदानगुणैः स लोकं,
पातिस्म वीरनृपतिर्न राजधर्मैः ॥ ४ ॥

अन्वयः—यः वैरिवरवीरवारणदर्पसिंहः विद्याविनोदविविधाभिरसः कलावान् (आसीत्) सः वीरनृपतिः गाम्भीर्यवीर्यगुरुदानगुणैः राजधर्मैः लोकं पातिस्म ॥४॥

अनुवादः—जो राजा वीरश्रेष्ठ शत्रुओं के दर्प को दूर करने में सिंह तथा विद्या और मनोरंजन आदि अनेकों कार्यों में अभिरुचि रखने वाला

और कलावान् था। वह वीर राजा अपनी गम्भीरता (गुप्तचरनीति) पराक्रम और बड़े बड़े पुरस्कार आदि गुणों द्वारा अपना राजधर्म समझकर समस्त प्रजा का पालन करता था ॥४॥

व्याख्या—प्रस्तुत श्लोक में अर्थगाम्भीर्य हैं। इसमें समुचित राज्यव्यवस्था के सभी आवश्यक तत्त्वों पर प्रकाश डाला गया है। राजा के तीन सर्वोत्तम गुण हैं। गम्भीरता, पराक्रम और गुरुदान। गम्भीरता से तात्पर्य उसकी मंत्रगोपनीयता से है। मन्त्रगुप्त रखना राजकाज के लिये अत्यन्त आवश्यक है। वे राजा शीघ्र नष्ट हो जाते हैं, जो अपना मंत्र गुप्त नहीं रखते। अपना मंत्र गुप्त रखना और गुप्तचरों द्वारा शत्रुराजा के मंत्र को जानना राजनीति के अन्तर्गत अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। गुप्तचररूप नेत्र रखने के कारण राजा को चारचक्षु कहा गया है।[1] पराक्रम भी राजा का एक अनन्य गुण है; इसके विना वह कुछ भी नहीं कर सकता क्योंकि सिंह के समान पराक्रमी पुरुष ही लक्ष्मी का प्राप्त करते हैं। भाग्य देता है ऐसा तो कायर लोग कहते हैं। राजा का तीसरा और महत्त्वपूर्ण गुण है, "गुरुदान"। क्योंकि जब किसी भी राजकाज में नियुक्त व्यक्तियों को कार्य की सफलता होने पर बड़े-बड़े पुरस्कारों से सम्मानित किया जाता है, तो वे अपने प्राणों की बलि देकर भी राजा हित करने के लिये तैय्यार रहते हैं ॥४॥

इत्थं नृपेण रजनीकरबिम्बवक्त्रा
राज्ञोऽप्यवन्तिनृपतेरतुलस्य पुत्री।
पाणिग्रहेण विधिना विहिता सुतारा
मुख्या बभूव सकलासु नृपाङ्गनासु ॥ ५ ॥

---

1. चारैः पश्यन्ति राजानः चक्षुर्भ्यामितरे जनाः।

अन्वयः—इत्थं नृपेण पाणिग्रहेण विधिना अतुलस्य राज्ञः अवन्तिनृपतेः रजनीकरविम्बवक्त्रा पुत्री सुतारा सकलासु नृपाङ्गनासु मुख्या बभूव ॥५॥

अनुवादः—इस प्रकार राजा वीरसिंह के द्वारा पाणिग्रहण विधि से व्याही गयी अतुल (जिनके समान कोई नहीं था) राजा अवन्ति नरेश की पुत्री सुतारा समस्त रानियों में मुख्य रानी हुयी ॥५॥

व्याख्याः—गुर्ज्जराधिपति महाराज वीरसिंह का विवाह उज्जयिनी नरेश की पुत्री सुतारा के साथ हुआ था जिसका मुख चन्द्रबिम्ब के समान मनोहर था जो अपने रूपशील माधुर्य के कारण समस्त रानियों में मुख्य रानी बन गयी।

यहाँ रजनी-कर-बिम्बवक्त्रा में उपमा अलंकार है ॥५॥

कालक्रमेण विकलां कमलासमानां,
चन्द्राननां नयननिर्जितपद्मपत्राम् ।
चन्द्रोदयेऽथ नृपतेः किल पट्टराज्ञी,
जज्ञे सुतां शशिकलामिव सत्यनाम्नीम् ॥ ६ ॥

अन्वयः—अथ कालक्रमेण नृपतेः पट्टराज्ञी सुतारा चन्द्रोदये चन्द्राननां नयनिर्जितपद्मपत्रां कमलासमानां विमलां शशिकलामिव सत्यनाम्नीं सुतां जज्ञे ॥६॥

अनुवादः—इसके बाद समयानुसार महाराजा वीरसिंह की मुख्य रानी सुतारा ने चन्द्रोदय के समय चन्द्रमा के समान मुख वाली, नेत्रों में कमलदल की शोभा को अर्जित करने वाली लक्ष्मी के समान, स्वच्छ चन्द्रमा की कला की तरह यथानाम तथा गुणवाली पुत्री को जन्म दिया ॥६॥

व्याख्याः—प्रस्तुत श्लोक में कवि ने महाराज वीरसिंह की पुत्री शशिकला के जन्म का बड़ा ही मनोरम चित्र प्रस्तुत किया है। जिस समय आकाश में रात्रि के गर्भ से चन्द्रकला का उदय होता हैं ठीक उसी समय

वीरसिंह नरेश की पत्नी सुतारा के गर्भ से शशिकला का जन्म हुआ। चन्द्रकला के समान उदय ही नहीं वह गुणों में भी चन्द्रकला की भांति ही थी। उसका मुख तो चन्द्रमा के समान था ही, साथ ही उसके नेत्र कमलदल की समस्त शोभा को धारण कर रहे थे। इन्हीं गुणों के कारण उसका नाम शशिकला ही रखा गया ॥६॥

सा वर्धते शशिकला शशिनः कलेव
राज्ञो विशिष्टतनया ह्यधिकैकभाग्या।
अल्पैर्दिनैः कतिपयैरपि राजधानी-
मागत्य वाक्यसुधया जनकं तुतोष ॥ ७ ॥

अन्वयः—राज्ञः विशिष्टतनया अधिकैकभाग्या सा शशिकला शशिनः कलेव वर्धते। कतिपयैः अल्पैः दिनैः राजधानीम् आगत्य वाक्य-सुधया जनकं तुतोष ॥७॥

अनुवादः—राजा वीरसिंह की विशिष्ट पुत्री अधिक और एकमात्र भाग्यशालिनी वह शशिकला चन्द्रमा की कलाओं की भांति बढ़ने लगी और कुछ थोड़े ही दिनों में राजधानी में आकर पिता को अमृत तुल्य वचनों से संतुष्ट करने लगी ॥७॥

व्याख्या:—कवि ने इस श्लोक में शशिकला के बढ़ने की तुलना भी चन्द्रकला से की है; जिस प्रकार चन्द्रकला की प्रतिदिन वृद्धि होती है; तथा वह दिन प्रतिदिन बढ़ती हुई १५ दिन में ही पूर्णता को प्राप्त होती है। उसी प्रकार शशिकला भी दिन प्रतिदिन बढ़ने लगी और कुछ ही दिनों में राजधानी में आकर अपनी तुतली बोली सुनाकर-पिता को वात्सल्य प्रदान करने लगी।

चन्द्रकला की भाँति शशिकला के बढ़ने के कारण यहाँ पूर्णोपमा है ॥७॥

तां वीक्ष्य चारुवदनां चतुराननस्य
वाचामिव प्रचुरबन्धुरबुद्धिशीलाम् ।
बालामबालगुरुरूपवतीं नरेश-
श्चिन्तांचकार तनयाध्ययनाय नित्यम् ॥ ८ ॥

अन्वयः—चतुराननस्य वाचामिव प्रचुरबन्धुरबुद्धिशीलाम् अबाल-गुरुरूपवतीं चारुवदनां तां वीक्ष्य नरेशः तनयाध्ययनाय नित्यं चिन्तां चकार ॥८॥

अनुवादः—ब्रह्मा की वाणी अर्थात् सरस्वती की भाँति अत्यधिक बुद्धिवाली, अत्यधिक रूप और यौवन से सम्पन्न और सुन्दर वदनवाली उस शशिकला को देखकर राजा (वीरसिंह) पुत्री के अध्ययन के लिए नित्य चिन्ता करने लगे ॥८॥

व्याख्या:—यहाँ कवि ने शशिकला की उपमा ब्रह्मा की पत्नी सरस्वती से की है, क्योंकि सरस्वती देवी ही विद्या और ज्ञान की अधि-ष्ठात्री है। अतः सरस्वती देवी के समान बुद्धिशीलता और रूपयौवन सम्पन्नता यहाँ शशिकला के सौन्दर्य पर अपरिमिति की रेखा खींचती है। बुद्धि और रूप में सरस्वती के तुल्य उस शशिकला के अध्ययन के लिये राजा को चिन्ता हुयी; क्योंकि बुद्धि और ज्ञान दोनों ही इतर चीजें है ज्ञान अध्ययन से ही होता है ॥८॥

राजीवपत्रनयना नरराजकन्या
यल्लीलयापि वचनं मधुरं बभाषे ।
तद्वीरभूधरपतेरमृतोपमानं,
चित्ते बभूव सुखदायि दिवानिशायाम् ॥ ९ ॥

अन्वयः—राजीवपत्रनयना नरराजकन्या लीलयाऽपि यन्मधुरं वचनं बभाषे तत् वीरभूधरपतेः चित्ते दिवा निशायाम् अमृतोपमानं सुखदायि बभूव ॥९॥

अनुवादः—कमलपत्र के समान नेत्रों वाली महाराज वीरसिंह की पुत्री शशिकला लीलापूर्वक जो मधुर वचन बोला करती थी वह राजा के लिये दिन रात अमृत के समान सुखदायी बनने लगी ॥९॥

व्याख्याः—कवि ने यहाँ शशिकला के नेत्रों की तुलना राजीवपत्र अर्थात् नीलकमल से की है जिसकी आकृति बहुत ही सुन्दर और आंख के समान होती है। श्लोक में प्रयुक्त लीलापूर्वक बोलना, उसके दो प्रकार के भावों को व्यञ्जित करता है, एक विलास भाव और दूसरा वात्सल्य भाव। परन्तु शशिकला तो रूपयौवन सम्पन्न थी अतः उसके लीलापूर्वक वचन में विलासभाव ही व्यञ्जित होता है। परन्तु एक पुत्री के लीलापूर्ण वचनों में पिता को वात्सल्य ही प्राप्त होगा भले ही वह युवती हो चुकी हो। अतः यहां भी राजा वीरसिंह को उसके भाव-भंगिमाओं से युक्त मधुर वचनों में वात्सल्य ही प्राप्त होता होगा जिसके कारण वे मधुर वचन उन्हें सुखदायी बन जाते होंगे। प्रस्तुत छन्द में वात्सल्य भाव व्यञ्जित होता है तथा लीला शब्द बालोचित संचारीभावों को ही व्यञ्जित करता है ॥९॥

> इत्थं नृवीरनृपवीरवरस्य चित्ते
> नित्यं चकार कविराजपदानि कन्या।
> तातस्तदीयगुणगौरवगाढचित्त—
> श्चिन्तापरो गुरुतरं गुणिनं ददर्श ॥ १० ॥

अन्वयः—इत्थं कन्या नृवीर नृपवीरवरस्य चित्ते कविराजपदानि चकार तदीयगुणगौरवगाढचित्तः चिन्तापरः तातः गुरुतरं गुणिनं ददर्श ॥१०॥

अनुवादः—इस प्रकार मनुष्यों में वीर और राजाओं में भी वीरश्रेष्ठ उन महाराज वीरसिंह के चित्त में उनकी पुत्री शशिकला ने कवि विह्लण के पदों को नित्य भर दिया तथा पिता ने उन गुरु के महान्

गुणों से गाढचित्त लौर चिन्तापरक होकर गुरुतर गुणी कहाकवि विह्लण को देखा ॥१०॥

व्याख्या:—प्रस्तुत श्लोक में समास शैली को अपनाया गया है। थोड़ी सी बात में बहुत कुछ कह देना ही यहाँ कवि की विशेषता है समस्त श्लोक से एकाधिक घटनाओं का अनावरण होता है ऐसा लगता है कि महाकवि विह्लण अत्यन्त प्रसिद्ध कवि थे जिनकी प्रशंसा सर्वत्र हो चुकी थी तथा वे सम्भवतः अभी गुजरात नहीं आये थे तथा इधर राजा वीरसिंह उनसे अपनी पुत्री को कामशास्त्र की शिक्षा दिलाना चाहते थे। जिसके बारे में स्वयं उनकी पुत्री ने उनसे कहा था यह श्लोक से ही स्पष्ट हो जाता है। तब ऐसी प्रशंसा सुनकर गाढचित्त अर्थात् अधिक चिन्तन करते हुये और चिन्तापरक होकर राजा ने उन्हें बुलाने प्रयास किया तब वे आये और तब उन बहुत अधिक गुणवान् कवि विह्लण को राजा ने देखा ॥१०॥

श्रीराजवंशनमितेन पुरोहितेन
राज्ञे न्यवेदि विदिताखिलतत्कथेन।
काश्मीरकः कविरसौ गुणिनं दिदृक्षु-
स्त्वामागतः क्षितिप ! विह्लणनामधेयः ॥ ११ ॥

अन्वयः—विदिताखिलतत्कथेन श्रीराजवंशनमितेन पुरोहितेन राज्ञे न्यवेदि। क्षितिप ! गुणिनं त्वां दिदृक्षुः विह्लणनामधेयः असौ कविः आगतः ॥११॥

अनुवादः—उस समस्त वृत्तान्त को जानने वाले श्री वीरसिंह के परम्परागत पुरोहित ने राजा से निवेदन किया कि हे पृथ्वीपति ! गुणी आपको देखने की इच्छा रखने वाला विह्लण नाम का वह कवि यहाँ आया है ॥११॥

प्रसङ्गः—अब पुरोहित कवि के आने का कारण बताते हुये राजा से कहता है—

मुक्तेन्दुकुन्दकुमुदस्फटिकावदाता
सर्वामरेन्द्रभुजगेन्द्रनरेन्द्रवन्द्याः ।
मन्त्रार्थतन्त्रजननी जननी श्रुतीनां
श्रीशारदास्ति विषये तत आगतोऽयम् ॥ १२ ॥

अन्वयः—मुक्तेन्दुकुन्दकुमुदस्फटिकावदाता सर्वामरेन्द्रभुजगेन्द्रनरेन्द्र-वन्द्या मन्त्रार्थतन्त्रजननी श्रुतीनां श्रीशारदा अस्ति । ततः विषये अयम् आगतः ॥१२॥

अनुवादः—पुरोहित ने राजा से कहा कि मुक्त चन्द्रमा कुन्द के फूल, श्वेतकमल और स्फटिक मणि के समान स्वच्छ (सुन्दर) श्वेतवर्ण वाली तथा सभी देवताओं के स्वामी इन्द्र शेषनाग तथा राजाओं द्वारा वन्दनीय, मन्त्र, अर्थ और तंत्र की उत्पत्ति करने वाली तथा वेदशास्त्रों की जननी श्रीशारदा हैं । उसी विषय में कवि यहाँ आया हैं ॥१२॥

व्याख्याः—मुक्तेन्दु का अर्थ पूर्ण चन्द्र से है क्योंकि चन्द्रमा पूर्णिमा को ही मुक्त होता है । कुन्द चमेली के फूल को कहा जाता है जो श्वेत होता है तथा श्वेतकमल और स्फटिकमणि ये सभी श्वेत वर्ण की पराकाष्ठा के द्योतक हैं । इन्हीं के समान श्वेतवर्ण वाली सरस्वती देवी की कल्पना कवि करता है तथा सरस्वती देवी को शुभ्रवस्त्रावृता कहा भी गया है । सर्वामरेन्द-भुजगेन्द्र-नरेन्द्रवन्द्या का अर्थ यहाँ ब्रह्मा, शिव और विष्णु द्वारा वन्दनीय भी किया जा सकता है । क्योंकि सर्व+अमर +इन्द्र अर्थात् सभी देवों के स्वामी ब्रह्मा भी माने जाते हैं । भुजग +इन्द्र अर्थात् सर्पों के स्वामो शेषनाग तो हैं ही साथ ही सर्पों को धारण करने के कारण शिव अर्थ भो लिया जाय तो अन्यथा नहीं होगा । तथा नर+इन्द्र अर्थात् राजा एवं मनुष्यों का पालन करने के कारण उन्हें विष्णु भो माना जा सकता है तथा यही अर्थं उपयुक्त भी है क्योंकि अन्यत्र “या ब्रह्माच्युतशंकरप्रभृतिभिः देवैः सदा वन्दिता” सरस्वती देवी कही गयी है । साथ ही वे मन्त्र अर्थ और तंत्र की जननी

होने के साथ वेद शास्त्रों की जननी तो हैं ही। अतः यह समस्त श्लोक सरस्वती देवी के पक्ष में प्रस्तुत है तथा उन्हीं के विषय में अर्थात् विद्याध्यापन के लिये कवि विह्लण का आगमन इस श्लोक में दर्शाया गया है। राजदरबार में कवि का आगमन ही सरस्वती विषयक है क्योंकि वे इसी विषय के विशेषज्ञ है और सरस्वती के लिये ही उनका आगमन हुआ है। यहाँ यह अर्थ शशिकला के विषय में भी पूर्णरूप से स्थित हो जाता है क्योंकि शशिकला भी मुक्त चन्द्रमा चमेली के फूल श्वेत कमल और स्फटिकमणि के समान सुन्दर श्वेत वर्ण वाली थी तथा इन्द्र शेषनाग और नरेन्द्र द्वारा वन्दनीय से तात्पर्य यहाँ उस त्रिलोक सुन्दरी मानना है क्योंकि स्वर्ग के राजा इन्द्र, पाताल के राजा शेषनाग और भूलोक के नरेन्द्र द्वारा जो वन्दनीय है वह अपने सरस्वती समान रूप सौन्दर्य के कारण ही है। मंत्रार्थतंत्रजननी तथा 'श्रुतीनां जननी शशिकला को स्वीकार करना यहाँ कवि पर वाममर्गी प्रभाव परिलक्षित है; क्योंकि वाममार्गी समस्त सिद्धियों के लिये स्त्री का ही हेतु मानते हैं। अतः सरस्वती के रूप में शशिकला की ओर यहाँ कवि का स्पष्ट संकेत है। इसके पूर्व श्लोक में शशिकला को 'चतुराननस्य वाचामिव' कहा भी गया है अतः यहाँ सरस्वती और शशिकला दोनों पक्षों में सभी विशेषण प्रयुक्त होने के कारण यमक अलंकार है॥ १२॥

कृत्वार्हणं प्रणतिपूर्वमथाशिषं तां
जग्राह वीरनृपतिः कविराजतोऽपि।
माया - प्रपंच - जगदर्णवभीतभीतः
सिद्धोपदेशमिव धर्मपरो हि लोकः॥ १३॥

अन्वयः—मायाप्रपंचजगदर्णवभीतभीतः वीरनृपतिः प्रणति - पूर्वम् अर्हणं कृत्वा धर्मपरो हि लोकः सिद्धोपदेशमिव कविराजतः आशिषं जग्राह॥ १३॥

अनुवाद—माया प्रपंच और संसार सागर के भय से भयभीत, वीर नृपति ने प्रणामपूर्वक आदर सत्कार करके कविराज से उसी प्रकार आशीर्वाद ग्रहण किया, जिस प्रकार धर्म परायण व्यक्ति सिद्ध पुरुष के उपदेश को ग्रहण करता है ॥ १३ ॥

व्याख्या:—कवि ने यहाँ राजा को "मायाप्रपंचजगदर्णवभीत-भीत:" कहा है इसका भाव है कि राजा को कवि से भय था कि कहीं मायावी या धोखेबाज न हो तथा संसार में पाये जाने वाले किसी छल आदि से सम्बन्धित न हो यह स्वाभाविक भी है कि राजाओं का चरित्र शंकालु होता है; क्योंकि उन्हें सर्वदा शत्रुओं का भय बना रहता है ॥ १३ ॥

पृष्ट्वा समस्तकुशलं कुलदेवतायाः
आदिष्टवान्निजपुरोहितमस्य साङ्गम् ।
यद्रोचते सुकवये पुरतः प्रभूतं,
भोज्याम्बरादि वितराभिमतोऽतिथिर्मे ॥ १४ ॥

अन्वयः—कुलदेवतायाः समस्तकुशलं पृष्ट्वा निजपुरोहितम् साङ्गम् आदिष्टवान् सुकवेः यद् रोचते अस्य पुरतः भोज्याम्बरादि वितर (यतः अयं) मे अभिमतः अतिथिः अस्ति ॥ १४ ॥

अनुवादः—इसके बाद कुल देवता की समस्त कुशल पूँछकर राजा ने अनुचरों सहित अपने पुरोहित को आदेश दिया कि श्रेष्ठ कवि विह्लण को जो कुछ अच्छा लगे खाने योग्य या वस्त्रादि इनके सामने प्रस्तुत करो; क्योंकि ये मेरे अभीष्ट अतिथि है ॥ १४ ॥

तस्मै विहस्य कवये द्रविणं क्षितीशः
प्रीत्या सुताध्ययनकारणकोविदाय ।
दत्वा निकाममुदिताऽद्यमनोरथश्रीः
श्रीवीरसिंहनपतिर्मुदमाससाद ॥ १५ ॥

अन्वयः—क्षितीशः श्रीवीरसिंहनृपतिः प्रीत्या विहस्य सुताध्ययनकारणकोविदाय तस्मै कवये द्रविणं दत्त्वा मुदमाससाद। अद्य मनोरथश्रीः निकाममुदिता ॥१५॥

अनुवादः—तब पृथ्वीपति श्री वीरसिंह महाराज प्रेमपूर्वक मुस्कराकर अध्ययन हेतु उन विद्वान् महाकवि विह्लण के लिये धन देकर आनन्दित हुये तथा इतने प्रसन्न हुये कि कहने लगे कि आज मेरी अभिलाषा रूपी लक्ष्मी अत्यन्त प्रसन्न हो गयी है ॥१५॥

व्याख्याः—राजा की मनोरथश्री का अत्यन्त प्रसन्न होने से यहाँ अपनी पुत्री शशिकला को कवि विह्लण द्वारा काव्यशास्त्र की शिक्षा दिलाने की अत्युकट अभिलाषा का पूर्ण होना अभिव्यञ्जित है ॥१५॥

स्नानानुलेपनमनोहरभोजनानि
दिव्याम्बराणि बहुमानपुरस्सराणि ।
काश्मीरकः कविवरोऽथ निशय्य रात्रौ
प्रातः पुरोहितयुतो नृपतिं ददर्श ॥ १६ ॥

अन्वयः—अथ बहुमानपुरस्सराणि स्नानानुलेपनमनोहरभोजनानि दिव्याम्बराणि लब्ध्वा काश्मीरकः कविवरः रात्रौ निशय्य प्रातः प्रीतियुतः नृपतिं ददर्श ॥१६॥

अनुवादः—इसके बाद अत्यन्त सम्मानपूर्वक किये गये स्नान, अनुलेपन, मनोहर भोजन और दिव्य वस्त्रों को स्वीकार कर, काश्मीर निवासी कविश्रेष्ठ विह्लण ने प्रेमपूर्वक रात्रि में शयनकर प्रातःकाल पुरोहित के साथ चलकर राजा वीरसिंह को देखा ॥१६॥

व्याख्याः—राजा वीरसिंह ने कविश्रेष्ठ बिह्लण का सभी प्रकार से स्वागत किया उन्हें स्नान के बाद सुगन्धित तेलों का शरीर पर लेप कराया गया मन को हर लेने वाले स्वादुयुक्त भोजनों को प्रस्तुत किया गया तथा दिव्य वस्त्रों पर शयन कराया गया। फिर जब प्रातःकाल

वे राजदरबार में उपस्थित किये गये तब उन्होंने राजा वीरसिंह को देखा।

यहाँ श्लोक में लब्ध्वा शब्द की कमी है जिसे अन्वय में जोड़कर अर्थ किया गया है कवि छन्दोभंग के कारण इस शब्द का प्रयोग नहीं कर सके है जिससे कोई काव्यत्व की हानि नहीं है ॥१६॥

गद्यप्रबन्धविधिना गुरुणा कवित्वं
कृत्वा च पद्यरचनां मधुरां कवीन्द्रः।
विद्यावगाहनवासपयोधिघीरं,
वीरं तुतोष स यथा न तथान्य एव ॥ १७ ॥

अन्वयः—कवोन्द्रः गुरुणा गद्यप्रबन्धविधिना मधुरां पद्यरचनां कवित्वं च कृत्वा विद्यावगाहनपयोधिधीरं वीरं यथा तुतोष तथा अन्यः न (तुतोष) एव ॥१७॥

अनुवादः—कविश्रेष्ठ विह्लण ने क्लिष्ट गद्य प्रबन्ध विधि से मधुर पद्यरचना और कविता करके विद्यारूपी समुद्र में अवगाहन करनेवाले धैर्यवान् उन वीर राजा को जितना संतुष्ट कर दिया उतना अन्य किसी ने किया हो नहीं ॥१७॥

व्याख्याः—महाराज वीरसिंह के समक्ष पहुँचकर कविश्रेष्ठ विह्लण ने क्लिष्ट गद्यवाले वाक्यों की मधुर पद्यरचना कर राजा को सन्तुष्ट कर दिया। यह कवि का एक विलक्षणत्व ही ही है क्योंकि राजा भी कोई सामान्य व्यक्ति नहीं थे वे भी विद्यारूपी समुद्र में स्नान किये हुये थे। अतः ऐसे विद्वान् राजा को क्लिष्ट गद्य के वाक्यों को पद्य में बदल कर जब महाकवि विल्हण ने सुनाया तो राजा सन्तुष्ट हो गये। तथा ऐसें सन्तुष्ट हुये कि उन्हें अन्य कोई कभी नहीं कर सका था श्लोक में राजा की अपरिमित विद्वता तथा फिर ऐसे राजा का काव्य द्वारा सन्तुष्ट करने में कवि की विलक्षणता पूर्ण रूप से अभिव्यञ्जित है ॥१७॥

एवं विलोक्य ललितार्थपदं कवीन्द्र-
मामंत्र्य तत्र तनयां कवये निवेद्य ।
अध्यापय प्रमुदितो भगवन्निमां त्वं
कृत्वा प्रसादमथ चन्द्रकलामुवाच ॥ १८ ॥

अन्वयः—एवं ललितार्थपदं कवीन्द्रं विलोक्य तत्र तनयाम् आमंत्र्य कवये निवेद्य । भगवन् ! त्वम् इमाम् अध्यापय एवं प्रसादं कृत्वा प्रमुदितः राजा चन्द्रकलाम् उवाच ॥ १८ ॥

अनुवादः—इसके बाद ललित अर्थ वाले सुन्दर पदों की रचना करते हुये कविराज विल्हण को देखकर राजा अत्यन्त प्रसन्न हुये और अपनी पुत्री चन्द्रकला को बुलाकर उसे काव्य पढ़ाने का निवेदन किया। इस प्रकार कवि को पूर्ण प्रसन्न करके स्वयं प्रसन्न हुये राजा अपनी पुत्री चन्द्रकला से बोले ॥ १८ ॥

उन्निद्रविद्यकुसुमः कविशेखरोऽयं
काश्मीरकः शशिकले ! कुरु पादपूजाम् ।
क्रीडां विहाय शुकसारिगतां सखीनां
शास्त्रं गृहाण वचनं कविविल्हणस्य ॥ १९ ॥

अन्वयः—काश्मीरकः अयं कविः उन्निद्रविद्यकुसुमः (अस्ति) शशिकले ! शुकसारिगतां सखीनां क्रीडां विहाय कविविल्हणस्य पाद-पूजां कुरु तथा शास्त्रवचनं गृहाण ॥ १९ ॥

अनुवादः—राजा ने अपनी पुत्री चन्द्रकला से कहा कि काश्मीर निवासी ये कविशिरोमणि विल्हण विकसित विद्यारूपी पुष्प के समान हैं। इसलिए हे शशिकले ! तुम तोता मैना की कहानियों में लगी हुई सखियों की क्रीडा को छोड़कर कवि विल्हण के चरणों की पूजा करो और शास्त्र वचन को ग्रहण करो ॥ १९ ॥

व्याख्या:—काश्मीरीय पाठ में "उन्निद्रविद्यकुसुम:" के स्थान पर "उन्निद्रविषकुसुम:" पाठ प्राप्त होता है। जिसका अर्थ होता है—खिले हुए कमल पुष्प के समान। परन्तु यह कवि के पक्ष में प्रयुक्त होकर औचित्य प्राप्त नहीं कर पाया है अतः 'उन्निद्रविद्यकुसुम:" ही अधिक उपयुक्त है क्योंकि खिला हुआ विद्यारूपी फूल कवि की विद्या के पूर्ण विकास का प्रतीक है॥ १९॥

राज्ञो विमृश्य गुणिनो गुरुभावभक्तिं
व्यक्ताक्षरक्रमवतीमपि राजपुत्रीम् ।
दृष्ट्वा व्यपाठयदतिप्रयतः कवीन्द्रः
स्तोकैर्दिनैः शशिकला विदुषी बभूव ॥ २० ॥

अन्वय:—कवीन्द्रः गुणिनः राज्ञः विमृश्य गुरुभावभक्तिं दृष्ट्वा व्यक्ताक्षरक्रमवतीमपि राजपुत्रीम् अतिप्रयतः व्यपाठयत्। स्तोकैः दिनैः शशिकला विदुषी बभूव ॥ २० ॥

अनुवाद:—कवि श्रेष्ठ विल्हण ने गुणी राजा से विचार विमर्श कर शशिकला की गुरु के प्रति भक्तिभाव को देखकर स्पष्ट अक्षरों को बोलने वाली राजपुत्री को अत्यन्त प्रयत्न से पढ़ाया और थोड़े ही दिनों में शशिकला विदुषी बन गयी॥ २० ॥

व्याख्या:—'व्यक्ताक्षरक्रमवतीमपि' से यहाँ प्रतीत होता है कि शशिकला अब शैशवास्था की तुतली बोली न बोलकर साफ साफ अक्षरों का उच्चारण करने लगी थी अर्थात् शैशवास्था की देहली लांघकर किशोरावस्था के भव्य भवन में प्रवेश कर चुकी थी। इसपर भी बड़े प्रयत्न से कविने उसे पढ़ाया। अतः अपि शब्द यहाँ जोर देने के लिये प्रयुक्त किया गया है क्योंकि जब बच्चा समझदार हो जाय तो उसके साथ अधिक प्रयत्न नहीं करना पड़ता। परन्तु उसके लिये करना पड़ा क्योंकि अभी तो उसने स्पष्ट अक्षरों का उच्चारण करना प्रारम्भ ही किया था। उतने पर भी उन्होंने ऐसा पढ़ाया कि वह थोड़े ही दिन में विदुषी बन गयी ॥२०॥

सा प्राकृतानि विमलानि च संस्कृतानि
शास्त्राण्यधीत्य किल चन्द्रकला सुशीला ।
श्रीविल्हणं निजगुरुं प्रणिपत्य साक्षात्
तं हर्षयाँ नृपतिमास सरस्वतीं च ॥ २१ ॥

अन्वयः—प्राकृतानि विमलानि संस्कृतानि च शास्त्राणि अधीत्य सा सुशीला चन्द्रकला निजगुरुं श्रीविल्हणं प्रणिपत्य नृपतिं सरस्वतीं च हर्षयामास ॥ २१ ॥

अनुवादः—स्वभावतः स्वच्छ और संस्कृत (शुद्ध) शास्त्रों का अध्ययन करके उस सत् चरित्र वाली चन्द्रकला ने अपने गुरु विल्हण को प्रणाम करके राजा और सरस्वती देवी को प्रसन्न किया ॥ २१ ॥

व्याख्याः—यहाँ सरस्वती देवी को प्रसन्न करने का तात्पर्य पूर्ण विद्या प्राप्त करने से है, क्योंकि सरस्वती देवी ही विद्या और ज्ञान की अधिष्ठात्री हैं अतः पूर्ण विद्या और ज्ञान प्राप्त करना ही उनकी प्रसन्नता है।

इस श्लोक के चतुर्थपाद में छन्दोभंग के भय से 'हर्षयामास' एक ही स्थान पर न कर 'हर्षयां नृपतिभास' कर दिया गया है जो व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध होने के कारण उचित तो नहीं तथापि काव्यत्वहानि न होने के कारण उचित ही है क्योंकि काव्य में व्याकरण पर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता। भास का स्वप्नवासदवदत्ता इसका उदाहरण है परन्तु शब्द में हेर फेर की जा सकती है यहाँ तो अक्षर को तोड़ा मरोड़ा गया है जो अनुचित है ॥ २१ ॥

कन्यागृहे प्रचुरकुङ्कुमपुष्पवासे
कर्पूरगौरसरसागरुचन्दनाढ्ये ।
शृङ्गारसारगहनं किल कामशास्त्र—
मध्यापयत्यमलचन्द्रकलां कदाचित् ॥ २२ ॥

अन्वयः—प्रचुरकुङ्कुमपुष्पवासे कर्पूरगौरसरसागरुचन्दनाढये कन्यागृहे कदाचित् (कविः) अमलचन्द्रकलां शृङ्गारसारगहनं कामशास्त्रम् अध्यायपयति ॥ २२ ॥

अनुवादः—प्रचुर केशर से सुगन्धित श्वेतवर्ण के कपूर, सरस (गीले) अगरु और चन्दन से लिपे हुए कन्यागृह में कदाचित् वह कवि अमल चन्द्रकला को शृङ्गार के सार गूढ़ अर्थ वाले कामशास्त्र को पढ़ाता था ॥ २२ ॥

व्याख्याः—जिस गृह में कवि राजकन्या को पढ़ाते थे उस गृह का वर्णन करते हुए बताया है कि वह गृह पर्याप्त केशर की गन्ध से सुवासित था तथा कर्पूर और सरस अगरु+चन्दनाढ्ये अर्थात् श्वेत कर्पूर, सरस अगरु तथा चन्दन से लिया हुआ था। इसका दूसरा अर्थ भी हो सकता है। कर्पूर+गौरस+रस+अगरुचन्दनाढ्ये अर्थात् कपूर गौरोचन का रस अगरु और चन्दन से लिपा हुआ है। दोनों ही अर्थ सार्थक हैं और सुगन्धित द्रव्यों से सम्बन्धित हैं। ऐसे प्रचुर सुगन्धित द्रव्यों से सुवासित गृह में कवि अमल चन्द्रकला को शृंगाररससार कामशास्त्र को पढ़ाते थे। अमल शब्द शशिकला के अक्षत कौमार्य को सूचित करता है।

यहाँ शृङ्गार रस का पूर्ण परिपाक दृष्टिगोचार हो रहा है इस परिपाक के लिये आलम्बन और उद्दीपन दोनों आवश्यक हैं। ये दोनों ही यहाँ उपस्थित हैं। समस्त सुगन्धित द्रव्यों से प्रचुर सुवासित वातावरण में कुमारी चन्द्रकला की उपस्थिति ही रस परिपाक के लिये पर्याप्त थी उस पर भी शृङ्गारसार गहन कामशास्त्र का अध्यापन। फिर भला कौन व्यक्ति ऐसा होगा जो शृंगार के अथाह सागर में न डूब जाय और यदि वह नहीं डूबता है तो अवश्य ही वह इस सृष्टि पर एक आश्चर्य ही है जो कि हृदयविहीन होकर भी जीवित है।

प्रस्तुत श्लोक से ज्ञात होता है कि उस काल में कामशास्त्र की शिक्षा का भी प्रावधान था। जो आज लुप्तप्राय है।

यहाँ 'कर्पूरगौरसरसागरुचन्दनाढ्ये' में शब्दश्लेष अलंकार है। कर्पूर गोर+सरस अगरु+चन्दनाढ्ये, (श्वेतकपूर, गीला अगरु, चन्दन) कर्पूर+गौरस+रस+अगरु+चन्दनाढ्ये (कर्पूर, गोरोचन, अगरु, चन्दन) ॥ २२ ॥

विज्ञातमन्मथकला स्मरबाणविद्धा
तस्यात्मजन्मरमणी नरनाथपुत्री।
भावार्थभावितमनोभवतुल्यकान्ता
कान्तेरसौ विदधति स्वदृशोर्विकारम् ॥ २३ ॥

अन्वयः—विज्ञातमन्मथकला स्मरवाणद्धा, भावार्थभावितमनोभवतुल्यकान्ता तस्य आत्मजन्मरमणी असौ नरनाथपुत्री कान्तेः स्वदृशोः विकारं विदधति ॥ २३ ॥

अनुवादः—कामदेव की कला को जानते ही वह शशिकला कामदेव के वाण से विद्ध तथा भावार्थों से भावित कामदेव के समान कान्तिवाली राजकुमारी कान्ति से अपने नेत्रों के विकार को प्राप्त हो गयी ॥ २३ ॥

व्याख्याः—इस श्लोक में कवि ने कामदेव के अतिक्रमण का वास्तविक चित्र प्रस्तुत किया है। जब कवि ने शशिकला को कामशास्त्र पढ़ाने के क्रम में काम की चौंसठ कलाओं को बताया तो कामकलाओं का ज्ञान होते ही वह कामदेव के बाण से विद्ध हो गयी अर्थात् उसके मन में कामभाव की पूर्णरूप से जागृति हो गयी। ऐसे सुवासित वातावरण में तदनुकूल भावार्थों से भावित होना स्वाभाविक है तथा जब किसी व्यक्ति पर काम का मद सवार हो जाता है तो उसकी कान्ति कुछ विचित्र ही हो जाती है। कामाग्नि में जलते हुए हृदय की सूचना आँखें सहसा दे ही देती हैं। उस काममन्तप्त व्यक्ति की आंखों में आयी विकृति

पुकार पुकार कर उसे स्पर्शन आलिङ्गन और चुम्बन के लिये वाध्य कर ही देती है।

यहाँ शशिकला के नेत्रों का विकार विलास की स्पष्ट सूचना दे रहा है। चौरपंचाशिका की काश्मीरीय पाण्डुलिपि में 'विज्ञातमन्मथकला' के स्थान पर 'विज्ञातमन्मथरसा' पाया जाता है जिसका अर्थ कामकला का ज्ञान न होकर कामरस का ज्ञान है। परन्तु कामरस के ज्ञान से यहाँ चन्द्रकला को कामरसास्वादन की प्रतीति होती है। इस प्रकार मन्मथ-कला से विचारात्मक ज्ञान तथा मन्मथरसा से प्रयोगात्मक ज्ञान स्पष्ट व्यञ्जित है परन्तु प्रारम्भ में ही प्रयोगात्मक ज्ञान स्वीकार करने पर काव्योत्कर्ष की हानि हो सकती है। अतः मन्मथकला ही अधिक उपयुक्त है। तथा 'तस्यात्मजन्मरमणी' के स्थान पर 'तस्यान्यभावरमणी' पाठ काश्मीरीय पाण्डुलिपि में प्राप्त होता है। जो चन्द्रकला की शैशबावस्था को सूचित करता है। क्योंकि अभी वह शैशवावस्था के खेल कूद आदि भावों में ही रमणकर रही थी परन्तु जब कामरस का ज्ञान हुआ तो काम सम्बन्धी भावों और भावाथों से भावित होकर आँखों में विकार उत्पन्न हो गया अर्थात् उसकी आँखों काममद से सरावोर हो गयी।

यह बात सर्वविदित है कि कलाओं की संख्या चोसठ है। उनका उल्लेख वात्स्यायन ने अपने कामसूत्र में किया है। उन्होंने अपने कामसूत्र में ६४ कलायें बतायी हैं जो इस प्रकार हैं—१–आलिङ्गन २–चुम्बन ३–नखच्छद ४–दन्तच्छद ५–संवेशन (साथ साथ मिलकर लेटना) ६–सीत्कृत (सीत्कर करना) ७–पुरुषायित (पुरुष के ऊपर लेटना) ८–औपरिष्टक। इस प्रकार इन आठ भेदों को आठ भागों में बाँटा गया है इस प्रकार ६४ भेद होते हैं। इन ६४ कलाओं का ज्ञान अत्यावश्यक है जो लोग इन कलाओं को नहीं जानते वे स्त्री-पुरुष

परस्पर सन्तुष्ट नहीं होते तथा जब सन्तुष्ट नहीं होते तो उनका जीवन कलहपूर्ण हो जाता है। क्यों कि कामसूत्र में कहा गया है कि स्त्रियाँ पुरुष को देखते ही शीघ्र ही मैथुन के लिये तैयार हो जाया करती हैं क्योंकि वे स्वभावतः कोमल होती हैं।

मृदुत्वादुपमृद्यत्वात् निसर्गाश्चैव योषितः।
प्राप्नुवन्त्याशु तां प्रीतिमित्याचार्या व्यवस्थितः॥

परन्तु स्त्रियाँ स्वभावतः जितनी कोमल होती हैं सम्भोग में वे उतनी-ही कठोर होती हैं। वे पुरुष से अधिक देर में सन्तुष्ट होती हैं। अतः पुरुष को इन उपर्युक्त ६४ कलाओं का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है॥ २३॥

प्रेमादरात्तरलितेन विलोचनेन
वक्त्रेण चारुहसितेन सुधाधरेण।
ईषद्विजृम्भितकुचद्वितयेन बाला
विद्वांसमाशु वशिनं च वशीचकार॥ २४॥

अन्वयः—प्रेमादरात् तरलितेन विलोचनेन चारुहसितेन वक्त्रेण सुधाधरेण ईषद्विजृम्भितकुचद्वितयेन बाला वशिनं विद्वांसम् आशु वशीचकार॥ २४॥

अनुवादः—प्रेमादर से तरलित नेत्रों से, सुन्दर हंसते हुए मुख से तथा जम्हाई लेने से, विकसित दोनों स्तनों से उस बाला चन्द्रकला ने इन्द्रियों को वश में करने वाले विद्वान् कवि को शीघ्र वशीभूत कर लिया॥ २४॥

व्याख्याः—कवि ने शशिकला को काम कलायें पढ़ाकर जब कामोद्वेलित कर दिया तो चन्द्रकला के नेत्र विकसित होकर प्रेमाश्रुओं से तरलित हो गये। आँखों का प्रेमादर से तरलित होना कामोत्कर्ष को तो सूचित करता ही है साथ ही प्रेमी का प्रेम द्वारा स्वागत करने का भी

प्रतीक है जब प्रेमिका प्रेमी को प्रेम की अनुमति प्रदान करती है तो आँखों का ही सहारा लेती है परन्तु फिर भी यदि प्रेमी प्रेम के विषय में सशंकित रहता है तब प्रेमिका सुन्दर मुख की सुन्दर मुस्कराहट से प्रेम का मौन अनुमोदन करती है उस समय जब वह मन्द मन्द मुस्कान के साथ बोलती हुई अधरों से अमृत विखेरती है फिर तो अनुमति के विषय में शंका ही नहीं रह जाती परन्तु जब कुछ जम्हाई लेती हुयी छाती उठाकर स्तनों को दुगुना कर देती है तब तो कहना ही क्या तब भी उसकी अनुमति पर कोई शङ्का करता है तो उसका दुर्भाग्य ही कहा जायेगा फिर तो प्रेमी को वशीभूत होना ही है ऐसे समय में कवि का वशीभूत होना स्वाभाविक ही था। इस प्रकार यहाँ प्रेम व्यापार का वास्तविक चित्र उपस्थित किया गया है ॥ २४ ॥

श्रीपद्मनयनां वरपद्महस्तां
पदम्प्रकृष्टचरणां शुचिपद्मगन्धाम् ।
तां पद्मिनीमिव सुपद्मनिकेतनां च
मेने कविः शशिकलामिव कामवल्लीम् ॥ २५ ॥

अन्वयः—श्रीपद्मपत्रनयनां वरपद्महस्तां पद्मप्रकृष्टचरणां शुचि-पद्मगन्धां पद्मिनीम् इव सुपद्मनिकेतनां शशिकलाम् इव कामवल्लीं तां कविः मेने ॥ २५ ॥

अनुवादः—सुशोभित कमलपत्र के समान नेत्रों वाली, श्रेष्ठ कमल तुल्य सुकोमल करों वाली, कमल तुल्य प्रकृष्ट चरणों वाली, कमल के समान गन्ध वाली तथा लक्ष्मी के समान सुन्दर कमल रूपी घर में निवास करने वाली चन्द्रकला की भाँति कामलता उस शशिकला को कवि विल्हण ने चाहा ॥ २५ ॥

व्याख्याः—कवि श्री विल्हण ने इस श्लोक में शशिकला के समस्त अंगों की पद्म से तुलना की है उसके नेत्र, भुजायें और पैर सभी पद्म के समान सुन्दर थे। साथ ही उसके समस्त शरीर में पद्म के समान गन्ध आती थी यहाँ तक कि उसका सर्वाङ्ग ही पद्मश्री से सुशोभित था। ऐसा कहकर यहाँ कवि ने शशिकला के सौन्दर्य एवं रहन सहन का पद्मिनी (लक्ष्मी) से सादृश्य स्थापित किया है। जिसप्रकार पद्मश्री से सुशोभित लक्ष्मी पद्मनिकेतन (अर्थात्) पद्म पर निवास करती है उसी तरह वह पद्मतुल्य सुकोमल विस्तरा पर निवास करती थी। उसके सभी अंग पद्म-तुल्य अंगों वाली पद्मिनी के ही समान थे। यहाँ कवि की कल्पना बड़ी विचित्र है। नायिका के अंगों की तुलना पद्म से करने तथा पद्म के समान ही शरीर से गन्ध आने से तात्पर्य उसे पद्मिनी स्त्री घोषित करना है क्योंकि वात्स्यायन कामसूत्र के अनुसार पद्मिनी स्त्री सर्वश्रेष्ठ मानी जाती है। जिसके घर में प्रवेश करते ही समस्त घर पद्म की गन्ध से सुवासित हो जाय वह पद्मिनी स्त्री कहलाती है।[1] पद्मतुल्य सर्वाङ्ग सुन्दरी पद्मगन्धा और पद्मनिकेतना होने के कारण लक्ष्मी को भी पद्मिनो कहा गया है। पद्मसुनिकेतना शब्द सुन्दर सुवासित और सुकोमल आवास का द्योतक है।

पद्म सामान्य कमल को नहीं कहा जाता। यह कमल की सभी जातियों में सर्वश्रेष्ठ जाति है। जो देखने में बहुत ही खूब सूरत होता है। इसमें मालोपमा अलंकार है॥ २५॥

---

१. भवति कमलनेत्रा नासिका क्षुद्ररन्ध्रा
अविरलकुचयुग्मा चारुकेशी कृशाङ्गी।
मृदुवचनसुशीला गीतवाद्यानुरक्ता
सकलतनुसुवेशा पद्मिनी पद्मगन्धा॥ (वात्स्यायन कामसूत्र से)

सा प्राह तं कविमवेक्ष्यमनोऽनुरागं
स्वामिन्द्वयं भवति सर्वजनोपशान्त्यै।
तत्त्वं शिवस्य शिवदायि च कामतत्त्वं
त्वं सम्प्रति स्मरगुरोः स्मरयोग्यमत्र ॥ २६ ॥

अन्वयः—मनोऽनुरागं तं कविम् अवेक्ष्य सा प्राह स्वामिन् ! अत्र सम्प्रति त्वं स्मरयोग्यम् (अस्ति यतः) स्मरगुरोः शिवस्य शिवदायि काम-तत्त्वं सर्वजनोपशान्त्यै भवति ॥ २६ ॥

अनुवाद—रूपयौवन सम्पन्न, शशिकला के सौन्दर्य से अनुरंजित मन वाले उस कवि को देखकर उस शशिकला ने कहा कि स्वामिन् ! यहाँ इस समय आप काम के योग्य हैं अर्थात् काम के वशीभूत हैं क्योंकि कामदेव के गुरु भगवान् शंकर का यह कल्याण प्रदान करने वाला कामतत्त्व समस्त प्राणियों को सान्त्वना प्रदान करने के लिये होता है ॥ २६ ॥

व्याख्याः—यहाँ पर कवि को पूर्ण कामोद्वेलित समझकर शशिकला सुरत का निवेदन करती है। क्योंकि ऐसे कामोद्दीपक वातावरण में कामशास्त्र का अध्यापन किसे वाध्य नहीं कर देगा परन्तु यह निवेदन नायक के पूर्ण अनुरक्त होने पर ही किया गया। अतः यहाँ इस श्लोक में प्रेमव्यवहार के एक सिद्धान्त पर प्रकाश डाला गया है, जबतक नारी पुरुष को पूर्णरूप से अनुरक्त नहीं समझ लेती है तब तक प्रणयप्रार्थना नहीं करती हैं। अतः जब शशिकला ने देख लिया कि कवि का मन पूर्ण-तया उसमें अनुरक्तत हो गया है तभी सुरत के लिए निवेदन करती है। फिर जब सर्वाङ्गसुन्दरी पद्मगन्धा और पद्मसुनिकेतना पद्मिनी स्वयं

प्रणय निवेदन कर दे तो कौन ऐसा व्यक्ति होगा जो उसे स्वीकार नहीं करेगा। जैसा कि महाकवि कालिदास ने कहा है कि चाहने पर लक्ष्मी न मिले तो कोई बात नहीं परन्तु यदि लक्ष्मी ही किसी को चाहे तो कौन ऐसा व्यक्ति होगा जो उसे स्वीकार नहीं करेगा ?

लभेत वा प्रार्थयिता न वा श्रियं
श्रिया दुरापः कथमीप्सितो भवेत् ।

क्योंकि यह कामतत्त्व कामगुरु भगवान् शंकर ने बनाया ही इसीलिये है। यह जीव के जीवन का एक अनिवार्य अंग है। यह मानसिक भूख है, संसार के सभी प्राणी इसी से शान्ति प्राप्त करते हैं। इससे न कोई बचा है और न बच सकेगा। बड़े-बड़े ऋषियों महर्षियों और मुनियों के तप को इसने डिगाया। राजा से रंक तक चींटी से हाथी तक सभी इसकी चपेट में आ जाते हैं। भगवान् शंकर ने इसे भस्म तो अवश्य कर दिया परन्तु अन्त में जीत उसी की हुई। शंकर जी को पार्वती के समक्ष झुकना ही पड़ा। अशरीरी होने पर तो यह दशा है यदि शरीर होता तो क्या करता ? श्लोक में कामतत्त्व के एक सार्वभौम सिद्धान्त पर प्रकाश डाला गया है। कामतत्त्व को शिवदायि कहकर यह बताया गया है कि संसार में इससे अधिक कल्याण प्रदान करनेवाला दूसरा तत्त्व नहीं है क्योंकि इससे अधिक आनन्दानुभूति एवं मन की शान्ति अन्यत्र कहीं नहीं है इसीलिये कल्याण करने वाले भगवान् शिव ही कामदेव के गुरु माने जाते हैं। कामदेव की प्रसन्नता में भगवान् शिव की प्रसन्नता है जो स्त्री-सम्भोग से पुरुष को जितना प्रसन्न करती है शिव उससे उतना ही अधिक प्रसन्न होते हैं ॥ २६ ॥

इत्युक्त एव विजनेऽथ विचार्य सद्यः
गन्धर्वराजविधिना जगृहे स पाणिम् ।
कामी युवा स्मरकलाकुशला च बाला,
दैवात्तयोरघटितं घटितं बभूव ।। २७ ।।

अन्वयः—अथ विजने इत्युक्त एव सद्यः विचार्य सः गान्धर्वराजविधिना पाणिं जगृहे । दैवात् कामी युवा स्मरकला कुशला बाला च तयोः अघटितं घटितं बभूव ।। २७ ।।

अनुवादः—जब शशिकला ने एकान्त में प्रणाय की प्रार्थना कर दी तो इसके ऐसे कहते हो शीघ्र ही गान्धर्वराज विधि से उस कवि ने शशिकला का हाथ पकड़ लिया । फिर क्या था दैवयोग से कामी युवा कवि विल्हण और कामकलाओं में कुशल किशोरी शशिकला के बीच जो नहीं होना था हो गया ।

व्याख्याः—अपने प्रति पूर्णतः कामोद्वेलित कवि को देखकर जब शशिकला ने यह कह दिया कि अब तुम काम के योग्य हो ऐसा कहने की देर थी कि शीघ्र ही कवि ने प्रेमविवाह की विधि से उस शशिकला का हाथ ग्रहण कर लिया और फिर उसके साथ रमण किया ।

इसमें प्रेम व्यापार की स्वाभाविकता पर प्रकाश डाला गया है प्रायः प्रेमिका की स्वीकृति मिलते ही प्रेमी का हाथ शीघ्रतापूर्वक बढ़कर उसके हाथ को पकड़ लेता है । इसे ही गान्धर्व विवाह कहते हैं । इसमें पाणिग्रहण परस्पर पूर्ण सहमति से ही होता है । भले ही समाज उसे स्वीकृति प्रदान करे अथवा न करे ।। २७ ।।

सा कामशास्त्रविधिना किल कामकेलिः
लीलाविलासनिलयं चकमे कवीशम् ।
अन्यूननूतनसुयौवन–मोहितस्तां,
वाक्यैः सुधारसनवैः नरराजबालाम् ॥ २८ ॥

अन्वयः—कामकेलिः सा कामशास्त्रविधिना लीलाविलासनिलयं कवीशं चकमे, अन्यूननूतनसुयौवनमोहितः सः सुधारसनवैः वाक्यैः तां नरराजबालां चकमे ॥ २८ ॥

अनुवादः—कामक्रीडा करने वाली, उस शशिकला ने कामशास्त्र विधि से काम क्रीडा में विलीन हुये उस कवीश्वर बिह्लण को बहुत प्यार किया तथा अत्यन्त नवीन सुन्दर यौवन से मौहित उस कवि ने भी अमृततुल्य नवीन वाक्यों द्वारा उस नरराजपुत्री शशिकला को भी अत्यधिक प्यार किया ॥ २८ ॥

व्याख्याः—प्रस्तुत श्लोक में दोनों ही परस्पर प्रेम करते हुए दर्शाये गये हैं। यहाँ यदि श्लोक के तृतीय-चतुर्थ पाद में 'अन्यून-नूतन-सुयौवन-योहितं तं वाक्यैः सुधारसनवैः नरराजवाला' पाठ लिया जाय तो एक 'चकमे' क्रिया से ही अर्थ निकल जायेगा। परन्तु वह केवल एकपक्षीय ही होगा उसमें केवल कामक्रीडा करने वाली वह नरराज पुत्री शशिकला ही कामशास्त्र विधि से अमृततुल्य नवीन वाक्यों द्वारा अत्यन्त नवीन सुन्दर यौवन से मोहित कामक्रीड़ा विलीन कवीश्वर विल्हण को अत्यन्त प्रेम करती हुयी ही देखी जा सकती है।

इस श्लोक का तृतीय और चतुर्थ पाद काश्मीरीय पाण्डुलिपि में दूसर प्रकार से है। वहाँ द्वितीय पंक्ति में 'अन्योऽन्ययौवन-विमोह-भर-प्रयुक्तैः वाक्यैः सुधारसमयैश्च ननन्दतुस्तौ' पाठ मिलता है। जिसका

अन्वय 'कामकेलिः सा कामशास्त्रविधिना लीला विलासनिलयंकवीशं चकमे अन्योऽन्ययौवनविमोहभरप्रयुक्तै सुधारससमैः वाक्यैः तौ ननन्दतुः' होगा। जिसका अर्थ होगा कि कामक्रीडा करने वाली उस शशिकला ने कामशास्त्र विधि से कामक्रीडा में विलीन हुए कवीश्वर विल्हण को बहुत प्यार-किया तथा एक दूसरे की जवानी में भरपूर मोहित होकर कहे गये दूसरे के अमृतमय वाक्यों द्वारा वे दोनों ही अत्यन्त आनन्दित हुए।

सभी पाठ अर्थ की दृष्टि से सहृदयश्लाघ्य हैं तथा सभी शुद्ध और परिमार्जित हैं। जो भी हो इतना अवश्य है कि परस्पर कामक्रीडा करते हुए एक दूसरे के अमृत वाक्य परस्पर ऐसे लगते हैं मानो कि एक दूसरे के मृत शरीर में प्राणों का संचार कर रहे हों। इसीलिये उन वाक्यों को 'सुधारसनवैः' कहा गया है। वास्तव में उस समय उन वाक्यों के श्रवण से जिसपर आनन्द अमृतत्व की प्राप्ति होती है। इसे शब्दों के घेरे में नहीं बाँधा जा सकता है। 'कामकेलिः' का अर्थ कामक्रीडाओं को करने वाली है तथा आलिङ्गन चुम्बन और दन्तक्षत नखक्षत संबेशन चित्ररत पुरुषोपसृत पुरुषायित सीत्कृत ये काम क्रीडायें हैं जो वात्स्यायन कामसूत्र में वर्णित हैं[1] ॥ २८ ॥

राजप्रियोऽपि विविधागमपारगोऽपि
भुङ्क्ते स गूढचरितो नरराजपुत्रीम्।
शास्त्रोदितान्यनुदितानि विमोहनानि
पश्यन्नहर्निशमतीवविमूढचेताः ॥ २९ ॥

अन्वयः—शास्त्रोदितानि अनुदितानि विमोहनानि पश्यन् अतीव विमूढचेतः राजप्रियोऽपि विविधागमपारगोऽपि स गूढचरितः अहर्निशं राजपुत्रीं भुङ्क्ते ॥ २९ ॥

---

१. वात्स्यायन कामसूत्र के द्वितीय अधिकरण से।

अनुवाद—शास्त्रों में वर्णित अस्पष्ट रूप से अत्यन्त व्याकुल बनाने वाले आकर्षणों को देखता हुआ अत्यन्त विमूढ चित्त वाला वह कवि बिल्हण राजा का प्रिय और अनेकों प्रकार के शास्त्रों का ज्ञाता होते हुए भी गुप्त रूप से रात-दिन राजपुत्री का भोग करता था ॥ २९ ॥

व्याख्या—प्रस्तुत श्लोक में 'राजप्रियः' तथा 'विविधागमपारगः' के साथ अपि शब्द का प्रयोग शशिकला के अप्रतिम सौन्दर्य को प्रकट करता है। क्योंकि यह सब होते हुए भी कवि स्वयं पर नियंत्रण नहीं रख सका इसमें शशिकला का रूपातिशय ही कारण है। क्योंकि वह जानता था कि जो राजा उसे इतना प्रिय समझता है वह ऐसा करने पर क्या सोचेगा तथा शास्त्रों के अनुसार यह सब कार्य अनुचित हैं। यह सब वह कवि समझाता था तथापि शशिकला के विमोहनों ने उसे इतना किंकर्तव्यविमूढ बना दिया था कि उसमें यह सोचने की शक्ति ही नहीं रह गयी ऐसा विलक्षण सौन्दर्य था उस शशिकला का। जब ऐसे शास्त्रज्ञ जितेन्द्रिय कवि को शशिकला के सौन्दर्य ने वशीभूत कर लिया तो साधारण जन की तो बात ही क्या है।

यहाँ भोग का अर्थ केवल भोग से है प्रयोगात्मक से नहीं। अभी तो कवि केवल शशिकला के सौन्दर्य का दृष्टि मात्र से ही भोग कर रहा है ॥ २९ ॥

पूर्णेन्दुबिम्बसदृशं च नृपात्मजास्य,
मानस्य विद्रुमलतामिव चुम्बनाय।
कामप्रियव्रतनिविष्टतयातिगाढ-
मालिङ्गनं सपुलकं प्रथमं चकार ॥ ३० ॥

अन्वय—कामप्रियव्रतनिविष्टतया पूर्णेन्दुबिम्बसदृशं नृपात्मजास्य चुम्बनाय विद्रुमलताम् इव आनम्य सपुलकम् अतिगाढं प्रथमम् आलिङ्गनं चकार ॥ ३० ॥

अनुवाद—कामदेव के प्रियवत में स्थित रहने के कारण पूर्णचन्द्र बिम्ब के समान राजकुमारी के मुख को चुम्बन करने के लिये मूंगे के वृक्ष की लता के समान झुका कर पुलकित होकर अत्यन्त गाढ़ प्रथम आलिङ्गन किया ॥ ३० ॥

व्याख्या—प्रस्तुत श्लोक में शृङ्गार तो है ही, साथ ही शृङ्गार को शब्दसौष्ठव ने और भी आकर्षक बना दिया है कवि ने पूर्ण चन्द्रमा के बिम्ब के समान राजकुमारी के मुख को माना है, जो समीचीन ही है, क्योंकि प्रायः अत्यन्त सुन्दर मुख में पूर्ण चन्द्रमा की कल्पना की परम्परा अतिप्राचीन है। वास्तव में अत्यन्त सुन्दर मुख चन्द्रमा के समान हो ही जाता है क्योंकि मुख में नेत्र नासिका और भ्रकुटी की कालिमा चन्द्रमा की कालिमा से सादृश्य स्थापित कर दोनों में पूर्ण समता स्थापित करती हैं।

कवि ने पूर्णेन्दु विम्ब के समान राजकुमारी के मुख को झुकाकर अधर पान करने की उपमा विद्रुम लता से की है। जो उस कामिनी के अधरों की सुन्दरता को व्यञ्जित करती है। बताया जाता है कि मूंगे का पेड़ समुद्र में होता है तथा मूंगे का रंग एकदम लाल होता है। अतः उस नृपसुता के होंठ (अधर) मूंगे के तदृश लाल थे, तथा जिस प्रकार कोई व्रतोपवास करने वाला व्यक्ति किसी वृक्ष की शाखा को झुकाकर फलाहार करता है। उसी प्रकार उस कवि ने मुखरूपी लता को झुकाकर अधररूपी फल का आहार किया और फिर अधरों को पीते हुये अत्यन्त कसकर प्रथम आलिङ्गन कर ही लिया। कितना मार्मिक है कवि का ये कथन जिसकी अन्यत्र समता ही नहीं है। सपुलकं शब्द आस्यं तथा आलिङ्गनम् दोनों का विशेषण हो सकता है परन्तु यहाँ आलिङ्गन के साथ रोमांच युक्त आलिंगन की प्रतीति करा रहा है जो उस काल में आवश्यक है ॥ ३० ॥

तन्नीविबन्धनविधानविमोचनाय,
नाभिप्रदेशनिहितः कविना प्रकोष्ठः ।
कन्दर्पमन्दिरनिधानहरः करोऽस्य
रुद्धः स तस्कर इव क्षितिराजपुत्र्या ॥३१॥

अन्वयः—तन्नीविबन्धनविधानविमोचनाय कविना नाभिप्रदेश-निहितः क्षितिराजपुत्र्या रुद्धः अस्य प्रकोष्ठः करः कन्दर्पमन्दिरनिधानहरः तस्कर इव आसीत् ॥ ३१ ॥

अनुवाद—आलिङ्गन के बाद उसके नारे (नीवि) की गाँठ को खोलने के लिये कवि द्वारा नाभि के पास रखा गया तथा राजकुमारी के द्वारा रोका गया कवि का हाथ कामदेव के मन्दिर के खजाने को लूटने वाले चोर की भाँति था ॥ ३१ ॥

व्याख्या:—प्रस्तुत श्लोक में कवि ने सुन्दर कामकला पर प्रकाश डाला है। इससे पूर्व के कुछ श्लोकों में कामशास्त्रीय विधान के आधार पर कवि एवं शशिकला का प्यार वर्णित है। शशिकला द्वारा प्रणय की अनुमति के बाद कामक्रीडा करते हुए जब कवि ने मूंगे के समान लाल लाल अधरों को पीते हुए उसके पुलकित (रोमांचित) शरीर का गाढ़ आलिङ्गन कर लिया; तब यहीं पर रुकना कैसे सम्भव था। बस फिर क्या था कवि का हाथ अब कामदेव के मन्दिर के खजाने को लूटने के लिए मन्दिर के द्वार (नीविबन्धन) को खोलने के लिये जैसे ही नाभि के पास पहुँचा कि शशिकला द्वारा रोक दिया गया। कैसा स्वाभाविक वर्णन प्रस्तुत किया है कवि ने इस श्लोक में। सम्भोग से पूर्व नारी स्वभाव का इतना सूक्ष्म चित्रांकन कवि की अप्रतिम काव्यकुशलता है। प्रत्येक कामिनी कामी का हाथ नीविबन्धन की ओर बढ़ते ही ना ना कहती हुयी सहसा पकड़ ही लेती है। फिर भले ही वह पकड़ अत्यन्त ढीली हो तथा उस ना ना में हाँ हाँ की ध्वनि आती हो। ऐसा वह स्वयं

नहीं करती बल्कि नार्युचित लज्जा उसे ऐसा करने को वाध्य कर देती है। जो नारी का एक सर्वश्रेष्ठ आभूषण है जिससे वह पुरुष को और अधिक आकृष्ट करती है।

यहाँ कवि ने श्रृङ्गार का अतीव मार्मिक दृश्य उपस्थित किया है अनुप्रास की सुन्दर छटा के साथ नारे की गाँठ को खोलने का प्रस्तुतीकरण कवि की अद्वितीय कल्पना है। उसके साथ साथ उस गाँठ खोलने वाले हाथ की कामदेव के मन्दिर के खजाने को लूटने वाले चोर से समता कर तो कवि ने कमाल ही कर दिया है ॥ ३१ ॥

प्रसङ्ग—कामदेव के मन्दिर के खजाने को लूटने वाले हाथ ने दरवाजा का ताला तो खोल दिया। परन्तु अनावरण नहीं किया। अर्थात् नीति बन्धन तो खुल गया परन्तु अभी वस्त्र नहीं हटाया तो देखिये अब आगे क्या होता है—

आलिङ्ग्य गाढमबलामुपनीय शय्या—
मारोप्य वक्षसि रदेन निपीड्य चोष्ठम् ।
संदशकेन चरणाग्रभवेन वस्त्र-
माकृष्य चाकुलतया सुरतं चकार ॥ ३२ ॥

अन्वयः—अबलाम् शय्याम् उपनीय वक्षसि आरोप्य गाढम् आलिङ्ग्य रदेन च ओष्ठं निपीड्य संदंशकेन च चरणाग्रभवेन वस्त्रम् आकृष्य आकुलतया सुरतं चकार ॥ ३२ ॥

अनुवाद—नीविबन्धन खोलने के बाद शशिकला को शय्या पर लाकर, छाती पर रख कर, खूब कस कर आलिङ्गन करके और दाँत से अधर को काट कर चुट्टी काटने वाले पैर के अँगूठे को उँगली से वस्त्र को खींच कर व्याकुलता पूर्वक सम्भोग किया ॥ ३२ ॥

व्याख्या– इसमें कवि ने बड़े ही मनोरम ढंग से सम्भोग की विधि पर प्रकाश डाला है। इसके अर्थ के क्रम में सर्वप्रथम शय्या पर लाना,

तब वक्षःस्थल पर रखना, तब खूब कस कर आलिङ्गन करके दाँत से होठ काटना, और यह सब करते हुये पैर की उँगली से वस्त्र को खींचना सुरतकालीन स्वाभाविक प्रवृत्ति को प्रकट करने के साथ साथ सर्वोत्कृष्ट सुरत विधि पर प्रकाश डालता है। साथ ही यहाँ पर कवि की प्रस्तुति इतनी बेजोड़ है कि सहृदय पाठक को व्याकुल कर देती है। कवि ने जब पद्मश्री से सुशोभित पूर्णचन्द्र बिम्ब के सदृश मुख वाली शशिकला को आलिङ्गन, चुम्बन कर उसके नीविबन्धन की गाँठ खोलकर शय्या पर लाकर और अपने वक्षःस्थल पर रखकर दाँत से ओठ काटना ऽरू किया होगा उस समय पैर की अँगुलियाँ स्वतः ही वस्त्र का खींचने लगी होंगी और वह खजाना खुल गया होगा जिसको वह लूटना चाहता है ! फिर जब खजाना खुला हुआ मिल जाय तो कौन नहीं उसे लूटने को व्याकुल हो जायेगा। जैसाकि कालिदास ने भी मेघदूत में कहा है कि **'ज्ञातास्वादो विवृतजघनां को विहातुं समर्थः'** अर्थात् स्वाद को जानने वाला ऐसा कौन व्यक्ति होगा जो खुली जंघाओं वाली प्रियतमा को छोड़ने में समर्थ होगा ?

प्रस्तुत पाण्डुलिपि में संदंश्यकेन शब्द का प्रयोग है जो निरर्थक है इसलिये इसके स्थान पर संदंशकेन शब्द लिया गया है। चौरपंचाशिका की पूर्व पीठिका में 'संदंशकेन चरणाभरणे न वस्त्रमाक्षिप्य' पाठ मिलता है जो अर्थ संगत नहीं है। क्योंकि चरणाभरणेन से चुट्टी नहीं काटी जा सकती अर्थात् न ही वस्त्र को खींचा जा सकता है, परन्तु चरण+ अग्रभव अर्थात् पैर की अँगुलि से यह सब कुछ सम्भव है, तथा ऐसा होता भी है। अतः यही पाठ समीचीन है। क्योंकि प्रेमी प्रायः पैर अँगूठे और अँगुलि के बीच दबाकर चुट्टी काटता है। अतः यहाँ इसी का औचित्य है ॥ ३२ ॥

चन्द्रानना सुरतकेलिगृहीतवस्त्रा
नेत्रे निरुध्य च करद्वितयेन तस्य ।
आरोप्य मञ्जुशयने परुषं ब्रुवाणा
सानन्दयत्कविवरं गुणसर्ज्जनेन ॥ ३३ ॥

अन्वय—सुरतकेलिगृहीतवस्त्रा परुषं ब्रुवाणा चन्द्रानना सा कविवरं मञ्जुशयने आरोप्य करद्वितयेन तस्य नेत्रे निरुध्य गुणसर्ज्जनेन आनन्दयत् ॥ ३३ ॥

अनुवाद—सुरतक्रिया में छिन्न-भिन्न वस्त्र को पकड़े हुए तीखे वचन बोलती हुई उस शशिमुखी शशिकला ने कविश्रेष्ठ विल्हण को सुखद शयन पर लिटा कर दोनों हाथों से दोनों नेत्रों को ढक कर कसाव को ढीला करके आनन्दित किया ॥ ३३ ॥

व्याख्या—इस श्लोक में रतिक्रिया की स्वाभाविकता पर प्रकाश डाला गया है। प्रेमी द्वारा पुनः पुनः प्रेमिका के वस्त्र को हटाना तथा प्रेमिका द्वारा वस्त्र को पुनः पुनः पकड़ना एक नार्युचित प्रथम लज्जा का नाट्य है। यह क्रिया सुरत के आकर्षण में असीमित वृद्धि करती है। उस समय उसके मुख से कुछ कठोर वचनों का प्रयोग भी स्वाभाविक है। उस काल के वे बाण जैसे तीक्ष्ण शब्द अमृत से भी मधुर प्रतीत होते हैं। वह भी इतने मधुर कि वह माधुर्य सदा के लिये अविस्मरणीय हो जाता है। इसी क्रम में प्रेमिका प्रेमी को बलात् सुखद शयन पर गिरा देती है और अपने दोनों हाथों से उसके दोनों नेत्रों को ढक लेती है। ताकि वह उसकी वस्त्रविहीन देहलता को देख न ले, क्योंकि ऐसा तो पहले ही किया जा चुका है। उसका वस्त्र तो अँगूठे से खींच लिया गया है। बस यही सब तो उस शशिकला ने किया और ऐसा करके फिर वह अपने कसाव को टीला करके शरीर संचालन द्वारा कवि को आनन्दित करने लगी।

सुरतकाल में प्रेमिका द्वारा प्रेमी के नेत्र बन्द करना स्वाभाविक क्रिया है। ऐसा वर्णन कालिदास ने अपने "कुमारसम्भवम्" महाकाव्य में भी किया है सम्भोगसमय जब शंकर जी पार्वती को निर्वस्त्र कर देते हैं तो वे अपनी दोनों हथेलियों से उनकी दोनों आँखों को ढँक देती हैं।

शूलिनः करद्वितयेन सा सन्निरुध्य नयने हृतांशुका।
तस्य पश्यति ललाटलोचने मोघहानविधुरा रहस्यभूत् ॥

इस श्लोक के तृतीय और चतुर्थ पाद में कुछ पाठभिन्नता पाई जाती है जैसा कि चौरपंचाशिका में प्राप्त इसकी द्वितीय पंक्ति "आरोप्य मंक्षुशयने पुरुषायमाणा सानन्दयत्यतिकराङ्गुलितर्जनेन" है। जिसमें मञ्जु के स्थान पर "मंक्षु", "पुरुषं ब्रुवाणा" के स्थान पर पुरुषायमाणा तथा गुणसर्ज्जनेन के स्थान पर कराङ्गुलितर्जनेन पाठ मिलता है, जिससे अर्थ में थोड़ी भिन्नता आ जाती है। मंक्षु का अर्थ यहाँ तुरन्त है, पुरुषायमाणा का अर्थ पुरुष के समान आचरण करने वाली है तथा कराङ्गुलितर्जनेन का अर्थ हाथ की अँगुलि से झिड़कना अर्थात् धमकाना है अथवा अँगुलि से उत्तेजित करना भी अर्थ ग्रहण किया जा सकता है।

इस प्रकार अर्थ होगा कि जब कवि ने उसको वस्त्रविहीन कर दिया तो वस्त्र को पकड़ते हुये उस चन्द्रमुखी शशिकला ने तुरन्त कवि को शयन पर गिराकर अपने दोनों हाथों से कवि के नेत्रों को ढक कर पुरुष के समान आचरण करते हुये अंगुलि तर्जन से कवि को अत्यधिक आनन्दित किया। यहाँ इस पाठ में पुरुषायमाणा शब्द कुछ खटकता है क्योंकि यह दशा प्रायः कई बार रतिक्रिया के बाद होती है तथा इस क्रिया में प्रेमिका पुरुष के समान आचरण करने लगती है। देखिये कुमार-सम्भव के अष्टम सर्ग में जहाँ पार्वती बहुत दिनों के बाद पुरुषायमाणा की स्थिति को प्राप्त हुई थी। परन्तु यहाँ तो शशिकला मुग्धा नायिका है

तथा प्रथम मिलन है अतः मुग्धा नायिका वह भी प्रथम मिलन से ऐसा करना असम्भव सा लगता है। मान लीजिये यह हुआ भी हो तो फिर जब उसने अपने दोनों हाथों से कवि की आँखों को बन्द ही कर लिया था तो हाथ की अँगुलि से तर्जन करके आनन्दित करना कैसे सम्भव है। फिर तो कवि की अँगुलि तर्जन के द्वारा स्वयं शशिकला का आनन्दित होना तो सम्भव हो सकता है। तब तो यही स्वीकार करना पड़ेगा कि वह ऊपर बैठकर उसके नेत्रों को ढके हुये हो और कवि के हाथ की अँगुलि संचालन अर्थात् योनि में अँगुलि के सहलाने से स्वयं आनन्दित हो रही हो। ऐसा भी सम्भव है तथा स्वाभाविक भी है। परन्तु यहाँ आनन्दयति क्रिया तो आनन्दित करने के अर्थ में ही प्रयुक्त होनी चाहिये ॥ ३३ ॥

पद्मानना चकितबालकुरङ्गनेत्रा
मत्तेभकुम्भयुगलस्तनभारनम्रा ।
काश्मीरकेण किल संघटितानिधाना
बोभुज्यते स्म करणेन नरेन्द्रपुत्रीम् ॥ ३४ ॥

अन्वयः—पद्मानना चकितबालकुरङ्गनेत्रा मत्तेभकुम्भयुगलस्तन-भारनम्रा संघटिता निधाना सा नरराजपुत्री काश्मीरकेण कविना करणेन बोभुज्यते स्म ॥ ३४ ॥

अनुवादः—कमल के समान मुखवाली, चकित हरिण शावक के समान चञ्चल नेत्रों वाली, मतवाले हाथी के ललाट की भाँति दोनों स्तनों के भार से झुकी हुयी, राजा की अर्जित सम्पत्ति वह राजकुमारी शशिकला काश्मीर के कवि विल्हण द्वारा अब इन्द्रिय से भोगी जाने लगी ॥ ३४ ॥

व्याख्याः—कवि ने मुख की कमल से उपमा मुख के सौन्दर्यातिशय तथा नेत्रों की चकित हरिण शावक से उपमा नेत्रों के चाञ्चल्योत्कर्ष के

लिये दी है। डरे हुए हरिण शावक के नेत्रों में जैसी चञ्चलता होती है, वैसी ही चञ्चलता शशिकला के नेत्रों में थी। जैसे हाथी अपने गण्डस्थल से वहने वाले मद से मत्त हो जाता है। उसी तरह वह भी अपने स्तनों के भार से झुकी हुयी तो थी ही साथ ही मदोन्मत्त भी थी। स्तनों का अधिक उभार नारी की मदोन्मत्तता को व्यञ्जित करता है। कवि ने शशिकला को संघटित निधाना माना है जिसका अर्थ दो प्रकार से हो सकता है एक तो अर्जित की हुई सम्पत्ति। दूसरा अर्थ मिली हुई और तीसरा घर्षण की हुयी सम्पत्ति। प्रथम अर्थ राजा की ओर संकेत करता है। क्योंकि हर नारी प्रारम्भ में पिता की अर्जित सम्पत्ति होती है जिसे वह चितवर को प्रदान करता है। दूसरा अर्थ कवि के पक्ष में जाता है क्योंकि वह कवि को मिली हुयी सम्पत्ति है और तीसरा अर्थ शशिकला की आलिङ्गित एवं घर्षित दशा को वताता है। इस प्रकार इस श्लोक में अनेकार्थों पर प्रकाश डाला गया है तथा सभी अर्थ सार्थक हैं। यहाँ "करणेन" का अर्थ भोगेन्द्रिय ग्राह्य है।

इसके काश्मीरीय पाठ में संघटिता निधाना के स्थान पर संपुटिता-भिधेन तथा 'स्म करणेन' के स्थान पर 'स्मररणे' तथा नरेन्द्रपुत्री के स्थान पर 'नरराजपुत्री' पाठ पाया जाता है। जिसका अर्थ होता है कि "कमल के समान मुखवाली हरिण शावक के समान नेत्रों वाली मतवाले हाथी के ललाट की भाँति दोनों स्तनों के भार से झुकी हुयी वह वह नरराजपुत्री शशिकला को (स्मरण) सम्भोगसमर में काश्मीर निवासी वह कवि संपुटित नामक आसन द्वारा इन्द्रिय से भोगने लगा ॥ ३४ ॥

चञ्चत्प्रवालरुचिरारुणदन्तवासा
दन्तप्रभाविजितहीरककुन्दशोभा ।
संतोष्यते तदनु पीडितकेन नाम्ना
कान्तेन कान्तिकरणेन नरेन्द्रपुत्री ॥ ३५ ॥

अन्वयः—चञ्चत्प्रवालरुचिरारुणदन्तवासा, दन्तप्रभाविजितहीरक-कुन्दशोभा (सा) नरेन्द्रपुत्री कान्तिकरणेन कान्तेन तत् अनुपीडितकेन नाम्ना (कान्तिकरणेन) संतोष्यते ॥ ३५ ॥

अनुवादः—चमकते हुये मूंगे के समान सुन्दर लाल लाल अधरों वाली तथा दांतों की चमक से हीरे और सफेद मोती को जीतने वाली वह राजपुत्री, शोभा बढ़ाने वाले प्रिय के द्वारा, अनुपीडितक नामक मैथुन विशेष से कामेन्द्रिय द्वारा सन्तुष्ट की जाती थी ॥ ३५ ॥

व्याख्याः—यहाँ कवि ने लाल लाल अधरों की तुलना चमकते हुए मूंगे से की है मूंगे की अरुणिमा वास्तव में हृदयग्राह्य होती है तथा इसके दाँत इतने चमकीले और सफेद थे कि उन्होंने चमक और सफेदी के उपमान हीरे और मोती दोनों को ही जीत लिया था। उपमान से उपमेय का व्यतिरेकी होने के कारण यहाँ व्यतिरेकि अलंकार है।

इस श्लोक में केवल द्वितीय पंक्ति में ही पाठ भेद है—कहीं कहीं 'संतोष्यते' के स्थान पर 'संशोष्यते' और 'संशोध्यते' पाठ भी पाया जाता है। परन्तु सबसे उपयुक्त 'संतोष्यते' ही है। क्योंकि साधारण मैथुन से सन्तुष्टि न होने पर ही अनुपीडितक नामक मैथुन का सहारा लिया जाना ही स्त्री संतुष्टि के लिये आवश्यक है। यह मैथुन बहुत ही कठोर मैथुन है।

श्लोक में कान्तिकरण शब्द का अर्थ भिन्न भिन्न है। एक अर्थ है, शोभा बढ़ाने वाला और दूसरा अर्थ है कामेन्द्रिय। क्योंकि कान्ति शब्द का अर्थ कामना भी है करण इन्द्रिय को कहते हैं अतः कामेन्द्रिय का अर्थ स्वीकार करना असमीचीन नहीं है। परन्तु मैंने यहाँ कान्तिकरण को अलग अलग दो स्थलों पर रखकर अर्थ कर दिया है। उसे कवि का विशेषण भी मान लिया है तथा भोगेन्द्रिय भी माना है। इसके अतिरिक्त इसका अर्थ कामासन भी किया जा सकता है। तब इसका अर्थ होगा कि अनुपीडितक नामक कामासन से भोग करता था ॥ ३५ ॥

आम्रप्रवालकरपल्लवकेलिरम्या
वामाङ्गना सुगतिर्निजितराजहंसी ।
पद्मासनाख्यकरणेन मनोविनोदैः
संगम्यते सुकविना क्षितिपालपुत्री ॥ ३६ ॥

अन्वयः—आम्रप्रवालकरपल्लवकेलिरम्या, सुगतिर्निजितराजहंसी वामाङ्गना क्षितिपालपुत्री सुकविना पद्मासनाख्यकरणेन मनोविनोदैः च संगम्यते ॥ ३६ ॥

अनुवादः—आम्रमंजरी के समान कोमल हाथों से कामक्रीडा में लीन, सुन्दर गति में राजहंसी को भी जीतने वाली वह वामाङ्गना राजकुमारी शशिकला श्रेष्ठ कवि द्वारा पद्मासन नामक आसन विशेष द्वारा तथा अन्य मनोरंजनों के द्वारा सम्भोग की जाती थी ॥ ३६ ॥

व्याख्या—इस श्लोक में सम्भोग विधि का वर्णन किया गया है। बताया गया है कि आम्रमंजरी के समान कोमल हाथों वाली और राजहंसी से भी अच्छी गति वाली उस शशिकला के साथ कवि बहुत से मनोविनोद तो करता ही था, साथ ही पद्मासन नामक सम्भोग आसन के द्वारा सम्भोग करता था।

चौरपञ्चाशिका की पूर्वपीठिका में "पद्मासनादिकरणैश्च" पाया जाता है। जिससे अर्थ में कुछ अन्तर आ जाता है जिसमें कवि पद्मासन आदि अनेकों आसनों से भोग करता हुआ प्रदर्शित होता है। पाठ दोनों ही ठीक है ॥ ३६ ॥

उद्यन्मृगेन्द्रतनुमध्यकृशावराङ्गी
सर्वाङ्गदत्तसुमना सुभगा सुशीला ।
सा सिद्धतामुपगता नरराजपुत्री
स्त्रीनैपुणं सुकविना बहुशिक्षिता च ॥ ३७ ॥

अन्वय—उद्यन्मृगेन्द्रतनुमध्यकृशावराङ्गी, सर्वाङ्गदत्तसुमना सुभगा सुशीला सुकविना बहुशिक्षिता सा नरराजपुत्री स्त्रीनैपुणं सिद्धतां च उपगता ॥ ३७ ॥

अनुवाद—उछलते हुए सिंह की कमर के समान पतली कमर से युक्त सुन्दर अंग वाली, समस्त अंगों को प्रदान कर देने से सुन्दर मन वाली या फूलों की समस्त अंगों वाली, सुन्दर भाग्यवाली या सुन्दर भग-वाली, सुशीला और श्रेष्ठ कवि विल्हण द्वारा अच्छी तरह शिक्षा दी हुयी वह राजकुमारी शशिकला स्त्रीनिपुणता और सिद्धता को प्राप्त हो गयी ॥ ३७ ॥

व्याख्या:—यहाँ शशिकला की कटि की तुलना कवि ने उछलते हुये सिंह की कटि से की है क्योंकि उछलते समय सिंह की कटि और भी अधिक पतली हो जाती है। अतः यह उपमा उसकी कटि की अत्यन्त कृशता को व्यञ्जित करती है जो वास्तव में नारी सौन्दर्य की पराकाष्ठा है। 'सर्वाङ्गदत्तसुमना' शब्द भी बहुत मार्मिक है क्योंकि प्रायः नारी का सम्पर्क जब तक किसी अभिलषित पुरुष से नहीं होता है तब तक वह विमना ही रहती है। परन्तु जब वह अपने अभीष्ट प्रेमी को अपना सर्वाङ्ग प्रदान कर देती है तो सुमन की तरह खिल कर सुमना (सुन्दर मन वाली) हो जाती है। क्योंकि यह काम मन की भूख है जिसके मिटने पर ही मन सुमन बन सकता है।

यहाँ सुभगा शब्द द्व्यर्थक है एक सुन्दर भाग्यवाली और दूसरा अर्थ है सुन्दर भगवाली। उसमें ये दोनों ही गुण विद्यमान थे।

कहीं कहीं इस श्लोक में पाठभेद भी पाया जाता है। जैसा कि 'तनु मध्यकृशावराङ्गी' के स्थान पर 'तनुमध्यरुचा' तथा "सर्वाङ्गदत्तसुमना सुभगा" के स्थान पर 'सर्वाङ्गदत्तसरलाभरणा सुशीला' पाठ मिलता है वह भी अर्थसंगत ही है। परन्तु मुझे यहाँ उपर्युक्त पाठ ही अधिक उपयुक्त लगा है ॥ ३७ ॥

दोलेन तेन करणेन कवीश्वरेण
सा रम्यते रतिकला कुशला निशीथे ।
सौन्दर्यरूपगुणयापि तयापि सं वै
तस्मै समर्पितमहो गुरुदक्षिणायै ॥ ३८ ॥

अन्वय—तेन कवीश्वरेण दोलेन करणेन सा रतिकला कुशला (शशिकला) निशीथे रम्यते। अहो सौन्दर्यरूपगुणया तया अपि सं वै तस्मै गुरुदक्षिणायै समर्पितम् ॥ ३८ ॥

अनुवाद—वह कवि दोल नामक मैथुन विशेष द्वारा रतिकला में कुशल शशिकला के साथ रात में रमण करता था। अहो आश्चर्य है कि ऐसी सौन्दर्य रूप गुणवाली उस शशिकला ने उस गुरु को गुरुदक्षिणा के रूप में स्वयं को ही समर्पित कर दिया ॥ ३८ ॥

व्याख्या—सुरतकाल में प्रेमी जब प्रेमिका को झूले की तरह झुलाता है। वह दोला नामक रतिक्रिया कही जाती जाती है। जिसके द्वारा कवि शशिकला के साथ रमण करता था। उधर शशिकला भी तो अनभिज्ञ नहीं थी वह रतिकलाओं में पूर्ण कुशल थी। अतः आनन्द आना स्वाभाविक है। तभी तो सौन्दर्य रूप गुणवाली होते हुये भी उसने गुरु के लिये गुरुदक्षिणा के रूप में स्वयं को ही समर्पित कर दिया। यहाँ इस कथन के माध्यम से अप्रत्यक्ष रूप से कवि यह भी बताना चाहता है कि कैसी भी सौन्दर्य रूप गुणवाली नारी हो सुन्दर रमण क्रिया के द्वारा अपने को समर्पित कर ही देती है तथा यह सत्य भी है कि नारी को जब तक वह अन्तःसुख नहीं मिलता तब तक बाह्य सुखों को वह कोई महत्त्व नहीं देती। उस सुख के मिलते ही वह पूर्ण समर्पित हो जाती है।

इस श्लोक में पाठभेद पाया जाता है। औत्तराह्ल पाठानुसर यह इस प्रकार है—
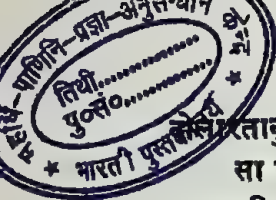
दोलारतानुकरणेन कवीश्वरस्य
सा रम्यते रतिकला कुशला निशीथे ।
लावण्यसिन्धुमुदिता रुदितानि
कृत्वा तस्मै समर्पयदहो गुरुदक्षिणायै ॥

इसका अर्थ इस प्रकार होगा कि रतिकला में कुशल वह शशिकला कवि के दोलारत नामक सम्भोग आसन द्वारा रात में रमण की जाती थी। अतः आश्चर्य है कि लावण्य को लेकर समुद्र से निकली हुयी उसने सम्भोग काल में रुदन करके भी स्वयं को गुरुदक्षिणा के रूप में कवि को ही समर्पित कर दिया ।

इस अर्थ में लावण्यसिन्धुमुदिता शब्द उसके सौन्दर्य विलक्षणत्व का प्रतीक है क्योंकि लावण्य शब्द लवण से बना है तथा लवण का उत्पत्ति स्थान समुद्र है अतः यहाँ उसके हेतु पर प्रहार किया है। उसमें इतना लावण्य था कि वह साक्षात् लावण्य के समुद्र से ही प्रकट हुयी थी। सर्वाधिक आश्चर्य यहाँ इसलिये व्यक्त किया गया है कि सम्भोग काल में रोकर भी उसने स्वयं को गुरु के लिये ही समर्पित कर दिया। इस प्रकार यहाँ सम्भोगकाल का स्वाभाविक चित्र तो खींचा है साथ ही यह भी एक सिद्धान्त प्रकाशित किया है कि सम्भोगकाल में नारी का रोना, रोना नहीं समझना चाहिये, वह तो उसका प्रसन्न होना है। उस समय उसका रोना पुरुष को धन्यवाद देना है और आंसू बहाना मोतियों का उपहार देना है जिसने यह धन्यवाद और उपहार नहीं पाया तो वह पुरुष असफल है। जब नारी की 'ना' का अर्थ 'हाँ' है तो रोने का अर्थ हँसना समझना चाहिये। उसके उस समय के कथन की जो अभिधा द्वारा ग्रहण करेगा ॥ ३८ ॥

उन्निद्रचम्पकविशुद्धसुवर्णवर्णा
कर्णान्तगस्मरसरोपमचारुनेत्रा ।
संरम्यते सुरतिनागरिकेन नाम्ना
श्रीविल्हणेन कविना नरपालपुत्री ॥ ३९ ॥

अन्वय—उन्निद्रचंपकविशुद्धसुवर्णवर्णा कर्णान्तगस्मरसरोपमचारुनेत्रा सा नरपालपुत्री श्रीविल्हणेन कविना सुरतिनागरिकेन नाम्ना संरम्यते ॥ ३९ ॥

अनुवाद—खिले हुये चंपक पुष्प के समान विशुद्ध सुन्दर वर्ण वाली या सुनहरे वर्ण वाली, कानों के अन्त तक जाने वाले कामदेव के बाण के समान सुन्दर नेत्रों वाली राजपुत्री शशिकला कवि के द्वारा सुरत नागरिक नाम की विशेष मैथुन क्रिया द्वारा रमण की जाती थी ॥ ३९ ॥

व्याख्या—शशिकला के सुनहरे वर्ण की उपमा कवि ने उन्निद्रचंपक पुष्प से दी है। स्वर्णिमा तो स्वर्ण में भी होती है परन्तु सम्भवतः कवि को इसलिये अभीष्ट नहीं है कि उसमें काठिन्य होता है। परन्तु शशिकला में काठिन्य नहीं था। अतः यह उपमा बहुत ही मार्मिक एवं सटीक है तथा इससे उसमें सुवर्णत्व के साथ साथ कोमलत्व भी व्यञ्जित है।

उसके कानों तक फैले हुये विशाल नेत्रों की उपमा कामदेव के बाण से दी गयी है जो उचित ही है, क्योंकि वास्तव में ये नेत्र ही प्रेमी के हृदय में ऐसा घाव कर देते हैं कि वह जीवन भर बेचैन रहता है। परन्तु यहाँ उपमा न देकर यदि बाण ही कह दिया जाता तो अधिक उपयुक्त रहता।

अन्य पाण्डुलिपि में 'स्मरसरोपम' के स्थान पर 'स्मरसरोरुह' पद का प्रयोग है जो इससे भी अधिक उपयुक्त है। इसके अर्थानुसार उसके नेत्र कामदेव के बाण से ही पैदा किये हुए थे अर्थात् उन नेत्रों को स्वयं

कामदेव ने ही अपने बाण की शलाका से ही बनाया था। पिता का असर सन्तान में अवश्य आता है। अतः बाण से बनाये जाने के कारण वे नेत्र कामियों के मन को बलात् हर लेने वाले थे ॥ ३९ ॥

तद्भावसूचितमनङ्गरसप्रसादं
चाटूक्तितत्क्षणवियोगसुदुस्सहं च।
प्रेमप्रवृद्धमितरेतरमप्रमेयं
कामं तयोरनुपमेयतरं बभूव ॥ ४० ॥

अन्वय—तद्भावसूचितम् अनङ्गरसप्रसादम् चाटूक्तितत्क्षणवियोग-सुदुःसहम् इतरेतरम् प्रेमप्रवृद्धम् तयोः कामम् अप्रमेयम् अनुपमेयतरं बभूव ॥ ४० ॥

अनुवाद—उन दोनों का परस्पर भावों से सूचित हो रहा कामदेव के रस का प्रसाद अर्थात् सम्भोग सुख की अनुभूति, परस्पर प्रेमपूर्ण वर्तालापों के बीच उसी समय थोड़ी देर का वियोग, जो असहनीय हो जाता था तथा परस्पर बढ़ा हुआ अनुपम काम और भी अधिक अनुपमेय होता गया ॥ ४० ॥

व्याख्या—शशिकला के भावों से लगता था कि उसने कवि के साथ सम्भोग रस का भरपूर प्रसाद पा लिया है इसीलिये उस समय प्रेमपूर्वक वार्तालापों के बीच उन दोनों को क्षणभर का वियोग भी हो जाता था इस प्रकार एक दूसरे के साथ प्रेमपूर्वक रहते हुये उनका काम इतना अधिक बढ़ गया था कि उसका कहीं प्रमाण ही नहीं था और न ही कहीं उपमा ही थी। इस प्रकार उन दोनों का प्रेम अप्रमेय और अनुप-मेय था ॥ ४० ॥

उत्तुङ्गपीवरघनस्तनमण्डलेन
बिम्बाधरेणरमण द्विजखण्डितेन ।
अङ्गेन कान्तपरिदत्तनखव्रणेन
शुद्धान्तरक्षिभिरलक्षि परोपभुक्ता ॥ ४१ ।

अन्वय--उतुङ्गपीवरघनस्तनमण्डलेन रमणद्विजखण्डितेन बिम्बाधरेण कान्तपरिदत्तनखव्रणेन अङ्गेन परोपभुक्ता (सा) शुद्धान्तरक्षिभिः अलक्षि ॥ ४१ ॥

अनुवाद—इसके बाद उस शशिकला के उठे हुये मोटे और घने स्तनों से, रमण के समय दाँतों से काटे गये बिम्बफल के समान अधरों से और प्रिय के द्वारा किये गये नखक्षत के चिह्न वाले अंग से वह शशिकला दूसरे पुरुष के द्वारा भोगी गई है, यह शुद्ध अन्तःकरण वाले गुप्तचरों ने जान लिया ॥ ४१ ॥

व्याख्या--पुरुष के शरीर का स्पर्श होते ही नारी के शरीर में विकृति हो जाती है। उसके स्तन ऊँचे और मोटे होकर सट जाते हैं। ऐसी ही दशा राजकुमारी की थी। साथ ही उसके काटे गये अधर और शरीर पर नखक्षत के चिह्न तो यह स्पष्ट बता रहे थे कि इसका उपभोग हो चुका है। इन चिह्नों से यह बात गुप्तचरों ने भी जान ली ॥ ४१ ॥

आः कस्य साम्प्रतमहो कुपितः कृतान्तः
उक्त्वेति कंचुकिवरः प्रणिपत्य भूपम् ।
देवाभयं शशिकला पुरुषोपभुक्ता
सत्यायते स गुरुरीक्षित एव नूनम् ॥ ४२ ॥

अन्वय—अहो साम्प्रतं कस्य कृतान्तः कुपितः। आः इति उक्त्वा देवाभयं भूपं प्रणिपत्य कञ्चुकिवरः (उवाच) शशिकला पुरुषोपभुक्ता। नूनं सः गुरुः (अस्ति) (इति) रक्षितः एव सत्यायते ॥ ४२ ॥

अनुवाद—कवि और शशिकला के प्रेम की जानकारी कंचुकी को हो गयी तो वह बोला कि "इस समय किस पर यमराज कुपित हो गये हैं" ऐसा कहकर वह कंचुकी देवों को भी अभय (निडर) करने वाले राजा को प्रणाम करके बोला कि महाराज ! शशिकला पुरुष के द्वारा उपभोग की जा चुकी है निश्चय ही वह व्यक्ति गुरूजी हैं जो देखते ही सत्य जान पड़ता है ॥ ४२ ॥

व्याख्या—यहाँ इस श्लोक में कुछ घटनाओं को हटा दिया गया है। केवल समास रूप में तथ्य प्रस्तुत कर दिया है। कहानी का रूप अधिक नहीं बढ़ाया है। अतः कोई दोष नहीं माना जा सकता। कौन किससे कह रहा है तथा फिर उसका कौन उत्तर दे रहा है ? यह सब केवल भावबोध्य है इसका तात्पर्य यह नहीं कि अस्पष्ट हो। पढ़ने पर पूरी तरह स्पष्ट हो ही जाता है ॥ ४२ ॥

रक्षाजनेन कविनामनिवेदितेन
भूपो बभूव किल दोलितचित्तवृत्तिः ।
किं सत्यमस्ति कथितं वितथं नु किं वा
जीवमियं द्वितयमेव कविः सुता मे ॥ ४३ ॥

अन्वय—कविनामनिवेदितेन रक्षाजनेन भूपः दोलतच्चित्तवृत्तिः बभूव किल। किं कथितं सत्यमस्ति वितथं नु वा ? किम् इयं मे सुता कविश्च द्वितयं जीवम् ॥ ४३ ॥

अनुवाद—रक्षक लोगों द्वारा कविराज विल्हण का नाम बताये जाने पर राजा वीरसिंह किंकर्तव्यविमूढ हो गये। उनकी चित्तवृत्ति दोलायमान हो गयी। अब वे सोचने लगे कि क्या यह सत्य है अथवा मिथ्या ? क्या मेरी पुत्री और कवि दोनों मिलकर एक जीव बन गये हैं ॥ ४२ ॥

वीरोऽपि कंचुकिवरः शरभिन्नमर्मा
संगोप्य सम्प्रति न संसदि भूरिदुखः ।
काश्मीरकस्य सुकवेश्चरितेक्षणाय
भूपोऽन्यदा शशिकलानिलयं जगाम ॥ ४४ ॥

अन्वय—वीरः अपि कंचुकिवरः शरभिन्नमर्मा सम्प्रति संसदि न भूरिदुःखः भूपः अन्यदा संगोप्य काश्मीरकस्य सुकवेः चरितेक्षणाय शशिकलानिलयं जगाम ॥ ४४ ॥

अनुवाद—वीर होते हुए भी कंचुकी की बात सुनने वाले बाण से विदीर्ण मर्मस्थल वाले तथा इस समय न्यायालय में दुःखी न होने वाले महाराज वीरसिंह दूसरे दिन छिपकर काश्मोर निवासी श्रेष्ठ कवि के चरित की परीक्षा करने के लिये शशिकला के घर गये ॥ ४४ ॥

व्याख्या—इस श्लोक में विशेष रूप से वाक्य की शुद्धता पर ध्यान नहीं दिया गया है वैसे भाव तो स्पष्ट हो ही रहा है कि जब कंचुकी ने राजा को बताया तो राजा को यह समाचार बहुत दुःखपूर्ण लगा। वह उनको ऐसा लगा जैसे कि किसी ने उनके शरीर पर बाण का प्रहार किया हो फिर भी राजा सभा में अधिक दुःखी नहीं हुए। क्योंकि वे इस समाचार को खोलना नहीं चाहते थे। इस प्रकार फिर दूसरे दिन छिप कर राजा उस कवि की जांच करने के लिये शशिकला के घर गये। काश्मीरी पाठ में प्रथम पंक्ति बिल्कुल भिन्न है। वहाँ 'आकर्ण्य कंचुकिवरः क्षितिपालवाचमासीत्ससंसदि यथा कंचुकिवरः शरभिन्नवर्मा' पाठ है जिसका अर्थ है कि राजा की वात सुनकर वह श्रेष्ठ कंचुकी ऐसा हो गया मानो कि बाण से उसका शरीर बेध दिया गया हो ॥ ४४ ॥

विद्यानवां प्रियतमामथचाटुवाक्यैः
कन्दर्पकेलिकुपितां नरराजपुत्रीम् ।
पुष्पेषु बाणविधुरीकृतकान्तकामः
कामी प्रसादयति चन्द्रकलां यथेष्टम् ॥ ४५ ॥

अन्वय—अथ पुष्पेषु बाणविधुरीकृतकान्तकामः कामी चाटुवाक्यैः कन्दर्पकेलिकुपितां विद्यानवां प्रियतमां नरराजपुत्रीं चन्द्रकलां यथेष्टं प्रसादयति ॥ ४५ ॥

अनुवाद—इसके बाद कामदेव के पुष्प बाण से प्रिया को विह्वल बनाने की इच्छा वाला कामी वह कवि कामक्रीडा में क्रोधित हुयी विद्या से नवीन प्रियतमा राजकुमारी चन्द्रकला को इच्छानुसार प्रसन्न कर रहा था ॥ ४५ ॥

व्याख्या—जब राजा शशिकला के घर गये तो देखते हैं कि कामक्रीडा काल में चुम्बन, आलिङ्गन, दन्तक्षत, नखक्षत आदि से मान करके बैठी हुयी विद्यावती राजपुत्री शशिकला को कामबाण से बेचैन वह कवि मीठी मीठी बातें कर इच्छानुसार प्रसन्न कर रहा है। यहाँ कामक्रीडा के समय मान करके बैठने से मुग्धानायिका की प्रतीति होती है।

इस श्लोक के प्रथम तथा तृतीय पाद में कुछ पाठ भेद है। प्रथम पाद में "विद्यानवप्रयतन्मन्मथचाटुवाक्यैः" तथा तृतीय पाद में 'मधुरीकृतमानसोऽयं' पाठ मिलता है। यह पाठ भी अनुप्रास की छटा होने के कारण उपयुक्त ही है। यहाँ "पुष्पेषु बाणः" में इषु तथा बाण का प्रयोग अनुचित है क्योंकि दोनों का अर्थ एक ही है। लगता है कि कवि ने छन्दपूर्ति के लिये बाण शब्द का प्रयोग किया है।

यह श्लोक सभी पाठों में उपलब्ध नहीं है ॥ ४५ ॥

सुभ्रु त्वमेहि कुपितासि किमर्थमेषा
शय्या त्वयाप्यपहृता सुरभिस्त्रिगाढ्या ।
कोपं विमुञ्च मयि रागिणि नम्रमौलौ,
भृत्ये प्रसीद भवतीविरहाद्दिशोऽन्धाः ॥४६॥

अन्वयः—सुभ्रु ! त्वम् एहि । किमर्थं कुपिता असि ? सुरभिस्त्रिगाढ्या एषा शय्या अपि त्वया अपहृता । कोपं विमुञ्च । नम्रमौलौ रागिणि मयि भृत्ये प्रसीद । भवतीविरहात् दिशः अन्धाः ॥ ४६ ॥

अनुवाद:—उस मानिनी मुग्धा चन्द्रकला को मनाता हुआ कवि कह रहा था कि हे सुन्दर भोंहों वाली प्रिये ! आओ किसलिये क्रोधित हो ? अरे सुगन्धित तिहरी बिछी हुयी इस शय्या को भी तुमने छोड़ दिया है । क्रोध को छोड़ो, सिर झुकाये हुए तुम में अनुरक्त मुझ सेवक पर प्रसन्न हो जाओ, क्योंकि तुम्हारे विरह से सब दिशायें ही अन्धी हैं अर्थात् तुम्हारे बिना सब जगह अंधेरा ही अंधेरा है ॥ ४६ ॥

व्याख्याः—यहाँ मधुर मधुर बातों के साथ मानिनी को मनाते हुये उसके पैरों में सिर झुकाने की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है । जैसा कि कालिदास ने अभिज्ञानशकुन्तलम् में कहा है कि राजा दुष्यन्त जब शकुन्तला का चित्र बनाकर उसे मनाने के लिये पैरों में गिरता था । उसी समय उसके आँसू दृष्टि को अवरुद्ध कर देते थे । इसीलिये वह पश्चात्ताप कर रहा था कि विधाता को चित्र में भी उसका मिलन सह्य नहीं है ।

अतः यहाँ कवि ने प्राचीन परम्परा का निर्वाह किया है ॥ ४६ ॥

यावत्प्रसादयति तां नृप आह तावत्
कां त्वं प्रसादयसि दुष्टचरित्रभावैः ।
श्रुत्वेति लक्षचरितो निजचौर्यगुप्त्यै
कामीदृशं निजकरेण ममर्द शीघ्रम् ॥ ४७ ॥

अन्वयः–यावत् प्रसादयति तां तावत् श्रुत्वा लक्षचरितः नृप आह दुष्ट-चरित्रभावैः त्वं कां प्रसादयसि निजचौर्यगुप्त्ये इति लक्षचरितः श्रुत्वा शीघ्रं कामीदृशं निजकरेण ममर्द ॥ ४७ ॥

अनुवादः—जब वह कवि चन्द्रकला को प्रसन्न कर रहा था अर्थात् मना रहा था; तभी सुनकर और चरित्र देखकर राजा ने कहा कि दुष्ट-चरित्र की भावनाओं से तुम उस किसको प्रसन्न कर रहे हो। फिर अपने गुप्तचरों द्वारा उसके देखे गये चरित्र के विषय में सुनकर राजा ने शीघ्र ही उस कामी कवि को अपने हाथ से घसीट लिया (पकड़ लिया) ॥४७॥

उत्थाय सम्मुखगतोऽक्षिशिरोऽवगुम्फ्य
तं प्राह धीरमनसा नृपतिः सचक्षुः ।
कान्तापि तापयति यः कुपितो जनोऽयं,
येन प्रसादयति देव विचारयार्थम् ॥ ४८ ॥

अन्वयः—उत्थाय अक्षिशिरःअवगुम्फ्य सम्मुखगतः सचक्षुः धीरम-नसा तं नृपतिं प्राह। कान्ता अपि तापयति। देव योऽयं कुपितः जनः येन प्रसादयति। अर्थं विचारय ॥ ४८ ॥

अनुवादः—जब राजा ने कुपिता (मान की हुई) शशिकला को इच्छानुसार प्रसन्न करते हुये कवि को पकड़ लिया तो उठकर ऊपर-शिर की ओर आँखे करके सामने प्रत्यक्ष होकर धीर चित्त से कवि ने उस राजा से कहा कि हे राजन् ? मुझको शशिकला भी कामसंतप्त कर रही है। हे महाराज ! जो यह कामसन्तप्त जन है जिस कारण से यह प्रसन्न कर रहा है आप उस अर्थ को विचार करें ॥ ४८ ॥

व्याख्याः—यहाँ अर्थ की बहुत तोड़ मरोड़कर किया जा सका है क्योंकि इसमें केवल संवाद लिया गया है। यहाँ कवि के कहने का भाव मात्र यही है कि इसमें शशिकला भी काम संतप्त है और मैं भी।

अतः कामसन्तस्त मैं उसे मना रहा हूं। वह आप जानते हैं अर्थात् इसमें केवल मेरा ही दोष नहीं दोनों ही दोषी हैं ॥ ४८ ॥

वाक्यं कवेरिति निशम्य निरीक्ष्य चक्षु-
रर्थो विचार्य बहुधा नृपतिः प्रतीतः।
श्रीभारतीविषयवासविलासलीलं
वाक्यं जगाद सः नृप। क्षममेतदुक्त्वा ॥ ४९ ॥

अन्वयः—कवेः इति वाक्यं निशम्य चक्षुः निरीक्ष्य अर्थः विचार्य बहुधा प्रतीतः नृपतिः क्षमम् एतद् उक्त्वा श्रीभारतीविषयवासविलास-लीलं जगाद ॥ ४९ ॥

अनुवादः—कविराज के उस वाक्य को सुनकर तथा आँखों से देखकर, अर्थ को विचार कर तथा अनेकों प्रकार से इसको क्षमा किया जाता है ऐसा कहकर राजा श्री सरस्वती के वास से विलास युक्त मधुर वाणी बोले ॥ ४९ ॥

व्याख्याः—सरस्वतीवासविलास शब्द राजा में सरस्वती का वास प्रकट करता है जिसका अर्थ विद्वतापूर्ण मधुर वाणी होगा ॥ ४९ ॥

पुत्री नृपस्य नरनाथमथ प्रणम्य,
प्रोवाच गद्गद्वचः शृणु तात तत्त्वम्।
विद्याधिको ममगुरुर्गुणवांश्च भाति,
तं वीक्षितुं गुणवतामधिकाः क्षमाः के ॥ ५० ॥

अन्वयः—अथ नृपस्य पुत्री नरनाथं प्रणम्य गद्गदवचः प्रोवाच। तात ! तत्त्वं शृणु। मम गुरुः विद्याधिकः गुणवान् च भाति। तं वीक्षितुं गुणवतां के अधिकाः क्षमाः ॥ ५० ॥

अनुवाद—राजा की पुत्री शशिकला मनुष्यों के स्वामी महाराज वीरसिंह को प्रणाम करके गद्गद् वाणी बोली कि हे पिता जी ! तुम तत्त्व

को सुनो। मेरे गुरु अधिक विद्यवान् और गुणवान् हैं। उसकी जांच (परीक्षा) करने को गुणवानों में कौन अधिक समर्थ है ॥ ५० ॥

भूपे गते स्म वदतीन्दुकलां सभीतां
कान्ते! ममाप्युभयथा कुशलं दुरापम्।
मृत्युस्त्वदीयविरहाद्यदि यामि देशं,
नाशस्तथात्र यदि वेत्ति पिता तवेदम् ॥ ५१ ॥

अन्वयः—भूपे गते (सः कविः) सभीताम् इन्दुकलां वदतिस्म। कान्ते! ममापि उभयथा कुशलं दुरापम्। यदि देशं यामि त्वदीयविरहात् मृत्युः। तथा अत्र यदि तव पिता इदं वेत्ति, नाशः ॥ ५१ ॥

अनुवादः—राजा के चले जाने पर वह कवि भयभीत इन्दुकला से बोला कि हे प्रिये। मेरी भी अब दोनों तरह से कुशलता दुर्लभ है। यदि मैं अपने देश को जाता हूँ तो तुम्हारे विरह से मृत्यु हो जायेगी तथा यहाँ यदि तुम्हारे पिता यह जानते हैं तो भी नाश ही है ॥ ५१ ॥

व्याख्याः—प्रस्तुत श्लोक में कवि चन्द्रकला के प्रेम में इतना तल्लीन है कि वह उसके विरह को भी सहने में समर्थ नहीं है। प्रस्तुत पाण्डुलिपि 'भूपेश्वरोऽथ' पद है तथा काश्मीरीय पाण्डुलिपि में इसके स्थान पर 'भूपे गतेस्य' पद का प्रयोग है जो अर्थ की दृष्टि से समुचित है ॥ ५१ ॥

विज्ञप्रियस्य तदिदं वचनं निशम्य,
वातोद्धतेव सहसा कदली चकम्पे।
तूर्णं चकार रमणस्य निरीक्षणं सा,
ताम्बूलशोभितकरापि वराङ्गनानाम् ॥ ५२ ॥

अन्वतः—ताम्बूलशोभितकरा अपि सा विज्ञप्रियस्य तद् इदं वचनं निशम्य वराङ्गनानां रमणस्य निरीक्षणं तूर्णं चकार। सहसा वातोद्धता कदली इव चकम्पे ॥ ५२ ॥

अनुवद—हाथ में पान लेकर खड़ी हुयो उस शशिकला ने विशेषज्ञानी अपने प्रिय के वचन को सुनकर कामिनी स्त्रियों के साथ रमण का निरीक्षण शीघ्र ही कर लिया और अचानक वायु से हिलाये हुये केले की भाँति काँपने लगी ॥ ५२ ॥

व्याख्या:—जब कवि ने शशिकला से यह कहा कि अब तो दोनों तरह मृत्यु ही है। उस समय शशिकला अपने हाथ में पान लेकर खड़ी थी। कवि की यह बात सुनते ही उसने जो भी कवि के साथ रमण किया था। उस पर शीघ्र ही अपनी एक निरीक्षण दृष्टि डाली तथा यह समझ लिया कि सुन्दरियां जब भी किसी से प्यार करती हैं उनकी यही दशा होती है। यह सब सोचकर शशिकला वायु से हिलाये गये केले की भांति कांपने लगी।

कहीं कहीं 'रमणस्य' के स्थान पर 'मरणस्य' पाठ भी उपलब्ध होता है अतः 'वराङ्गनानां मरणस्य निरीक्षणं' से भी शशिकला का कोपना स्वाभाविक ही है। शब्द दोनों ठीक हैं परन्तु 'रमणस्य' अधिक उपयुक्त है क्योंकि यह रमण शब्द ही अपने में मरण के भाव को छिपाये हुये हैं। 'वराङ्गनानां रमणस्य' का परिणाम ही मरण है जो भी प्यार करता है उसकी अन्तिम स्थिति मृत्यु है कामदेव के पांच बाणों में अन्तिम वाण मारण ही है। काम की दशा ही यही हैं, इसमें मदन के बाद, उन्मादन, फिर तापन उसके बाद में शोषण और अन्त में मारण ही होता है। यही कामदेव के पांच वाण हैं।

मदनोन्मादनं चैव तापनं शोषणं तथा।
मारणञ्चेवेत्येते पञ्चबाणाः प्रकीर्तिताः ॥ ५२ ॥

श्रेयो वरं मयि न जीवितनाथनाथ !
त्वं किं वृथा त्यजसि मामकृतापराधाम् ।
सूक्ष्मातिधर्मगतिरस्ति विचारय त्वं
जीवामि किं रमण ! ते विरहान्मुहूर्तम् ।।५३।।

अन्वयः—हे जीवितनाथनाथ ! मयि श्रेयो वरं न । त्वं अकृतापराधां मां वृथा त्यजसि । इयं सूक्ष्मातिधर्मगतिः अस्ति इति विचारय। रमण ! किम् अहं ते विरहात् मुहूर्तं जीवामि ॥ ५३ ॥

अनुवाद—शशिकला कहती है कि हे मेरे जीवन के आधार अर्थात् जीवन के एकमात्र स्वामी ! अब मेरा कल्याण नहीं है। तुम मुझे व्यर्थ क्यों छोड़ रहे हो ? यह धर्म की सूक्ष्म गति है इसे विचार करो। हे रमण करने वाले प्रिय ? मैं तुम्हारे विरह से एक मुहूर्त भी नहीं जी सकती हूं ॥ ५३ ॥

सौदामिनी किं भवति जलदे प्रयाते,
अस्तंगते शशिनि तिष्ठति चन्द्रिका किम् ।
हे जीवितेश ! रतिदायक ? कान्तकाम !
जीवामि न क्षणमदर्शनतस्तवाहम् ।। ५४ ।।

अन्वयः—किं जलदे प्रयाते सौदामिनी भवति ? किं शशिनि अस्तंगते चन्द्रिका (भवति) ? हे जोवितेश ! हे रतिदायक ! हे कान्तकाम ! तव अदर्शनतः अहं क्षणं न जीवामि ॥ ५४ ॥

अनुवादः—शशिकला कवि से कहती है कि "हे स्वामी क्या बादल के चले जाने पर विजली चमकती है ? क्या चन्द्रमा के अस्त हो जाने पर चांदनी रहती है ? अतः हे जीवितेश ! हे सम्भोग सुख देने वाले ! हे कामदेव के समान सुन्दर ! मैं तुम्हारे दर्शन के विना क्षण भी नहीं जी सकती हूँ ॥ ५४ ॥

व्याख्या– कवि ने यहाँ शशिकला के विरह की दशा को बड़े ही सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया है; जिस प्रकार विजली का अस्तित्व वादल के रहने पर तथा चांदनी का अस्तित्व चन्द्रमा के रहने पर है। दोनों के अभाव में दोनों का अभाव सुनिश्चित है उसी प्रकार कवि के न रहने पर शशिकला भी नहीं रह सकती। अतः यहाँ अपूर्व विरह व्यञ्जित है ॥ ५४ ॥

बालेयमेव शरणं मरणेऽपि भूयात्
मृत्युर्भविष्यति जनस्य च मादृशस्य।
भूयाद् विपत्तिरिह राजसुतानिमित्ते,
धर्मस्तदेति सुदृढं हृदयं चकार ॥ ५५ ॥

अन्वयः मरणेऽपि बालेयम् एव शरणं भूयात्। मादृशस्य जनस्य मृत्युः भविष्यति। इह राजसुता निमित्तेः विपत्तिः भूयात्। तदा धर्मः इति हृदयं सुदृढं चकार ॥ ५५ ॥

अनुवाद—शशिकला के यह कहने पर कि मैं तुम्हारे विना एक क्षण भी जीवित नहीं रह सकती। कवि कहता है कि मरने पर भी बलि देने वाले की शरण में जाना चाहिये अर्थात् यदि कोई किसी को प्राण दे दे तो उसके लिये उसे भी प्राण दे-देना चाहिये। अतः तुम्हारे साथ मेरी भी अवश्य मृत्यु हो जायेगी। यहाँ राजकुमारी के लिये भी विपत्ति होनी चाहिये तब धर्म है। इस प्रकार कवि ने हृदय को मजबूत बना लिया ॥ ५५ ॥

व्याख्याः—शशिकला कवि के विना क्षण भर जीने की तैयार नहीं थी, तो कवि ने भी उसके साथ प्राण देने का निश्चय कर लिया तथा इसे ही अपना धर्म माना ॥ ५५ ॥

निर्वासनं स्वनगरात् खरपृष्ठयानं,
नाशं करस्य वधबन्धनकं समस्तम्।
अंगीचकार कुसुमेषु निपीडिताङ्गः,
काश्मीरको नृपसुतारमणाय गूढः ।। ५६ ।।

अन्वय—कुसुमेषु निपीडिताङ्गः नृपसुतारमणाय गूढः काश्मीरकः (अयं कविः) स्वनगरात् निर्वासनं, खरपृष्ठयानं, करस्य नाशं वधबन्धनकं समस्तम् अङ्गीचकार ।। ५६ ।।

अनुवादः—फूलों में भी पीड़ित अंगवाले, राजपुत्री से रमण करने के प्रबल इच्छुक उस काश्मीर निवासी कवि ने नगर से निर्वासिन, गधे की पीठ पर बैठाकर घुमाना, हाथ का काटा जाना, मृत्युदण्ड और कारावास आदि सभी स्वीकार कर लिये ।। ५६ ।।

व्याख्याः—विडम्बना तो यह है कि शशिकला के फूलों जैसे शरीर से पीडित अंगों वाले उस कवि ने उपर्युक्त समस्त कठोर दण्डों को स्वीकार कर लिया। परन्तु राजकुमारी के साथ रमण करने वाले अपने दृढ़ निश्चय को नहीं बदला ।। ५६ ।।

खेदं न यान्ति दधति स्वजने न लज्जां,
ये स्त्रीरताः किल भवन्ति नराः विमूढाः ।
सत्यां सती परममूर्तिमतीव गङ्गां,
वामाङ्ग एव वहति त्वशिवः शिवोऽपि ।।५७।।

अन्वयः—स्त्रीरताः नराः विमूढा भवन्ति किल ये खेदं न यान्ति। स्वजने लज्जां न दधति। परममूर्तिमती सतीव सत्याम् अपि अशिवः शिवः तु गङ्गां वामाङ्गे एव वहति ।। ५७ ।।

अनुवादः—इसमें कवि ने काम की दशा का वर्णन किया है। कवि कहता है कि स्त्रीरत मनुष्य विमूढ हो जाते हैं। उन्हें अपने मान

अपमान का न तो खेद ही होता है और न लज्जा ही। परममूर्तिमती (बहुत सुन्दरी) सती के रहने पर भी अमंगल वेशधारी शिव ने तो गङ्गा को अपने वामाङ्ग में ही धारण करते हैं ॥ ५७ ॥

व्याख्या:—इस श्लोक में कवि ने एक कामासक्त व्यक्ति का चित्र प्रस्तुत किया है। जब प्रेमी की आँखों में प्रेमिका का और प्रेमिका की आँखों में प्रेमी का चित्र प्रतिबिम्बित होता है; तब कामदेव अपने-अपने प्रथम बाण का प्रयोग करता है जिसे मदन कहा जाता है जो दोनों को मस्त (मदहोश) बनाता है यह मत्तता मद्यपान से भी बढ़कर होती है। मद्यपान की मत्तता तो क्षणिक होती है परन्तु इसकी मत्तता कभी समाप्त नहीं होती और शीघ्र ही उन्मत्तता में बदलती चली जाती है। यही कामदेव का द्वितीय बाण है जो उन्मादन करता है जो प्रेमी प्रेमिका के हृदयों में घुसकर ऐसा घाव पैदा करता है; जो न कभी मरता है और नहीं मृत्यु देता है। उस समय वे किंकर्तव्यविमूढ हो जाते हैं उन्हें अपने मान अपमान का न तो खेद ही होता है और न अपने जनों से लज्जा ही। स्त्रीरत पुरुष किसी की चिन्ता नहीं करते। इस परिप्रेक्ष्य में कवि ने भगवान् शंकर का उदाहरण प्रस्तुत किया है। भगवान् शिव जो बहुत ही अमांगलिक वेश में रहते हैं सदा नंगे, तन पर राख रमाये, गले में सर्पो और नर मुण्ढों की माला धारण किये हुये तथा अद्वितीय सुन्दरी सती पार्वती के रहने पर भी गङ्गा को अपने वामाङ्ग में धारण करते हैं। उन्हें न अपनी अद्वितीय सुन्दरी सती की चिन्ता है, न समाज का भय है और न अपने मान अपमान का खेद। जब भगवान् जैसा अशिव कुरूप व्यक्ति पास में अद्वितीय सुन्दरी सती के होते हुये भी स्त्रीरत हो सकता है तो साधारण जन की तो बात ही क्या है।

यह सब कामदेव का प्रभाव है जिसने अपने विजेता शंकर का तो यह हाल कर दिया तब सामान्य जन उससे कैसे बच सकता है। उसने

कवि पर जब अपने मदन और उन्मादन दो बाणों का प्रयोग कर ही दिया, तो अब क्रमशः तापन शोषण के बाद अन्त में मारण होना ही है जैसी कवि की दशा होने जारही है। देखिये ऊंट किधर करवट लेता है ॥ ५७ ॥

अंगीविधाय सशिवं च शिवेतरं च,
काश्मीरकः शशिकलां रमते तथैव ।
भूयः कविः कतिपयेषु दिनेषु दूती,
वक्त्रेण तेन गदितेन पुरोहितेन ॥ ५८ ॥

अन्वयः—सशिवं शिवेतरं च अङ्गीविधाय काश्मीरकः (कविः) शशिकलां तथैव रमते कतिपयेषु दिनेषु तेन पुरोहितेन दूतीवक्त्रेण कविः भूयः गदितः ॥ ५८ ॥

अनुवादः—शुभ और अशुभ को स्वीकार करके काश्मीर निवासी वह कवि शशिकला के साथ उसी प्रकार रमण करता था। इस प्रकार कुछ दिनों के बीतने पर उस पुरोहित ने दूती के द्वारा उस से पुनः कुछ कहा ॥ ५८ ॥

अलमतिचपलत्वात्स्वप्नमायोपमत्वात्
परिणतिविरसत्वात् संगमेनाङ्गनायाः ।
इति शतकृत्वस्तत्त्वमालोचयामः,
तदपि न हरिणाक्षीं विस्मरत्यन्तरात्मा ॥५९॥

अन्वयः—अतिचपलत्वात् स्वप्नमायोपमत्वात् परिणतिविरसत्वात् अंगनायाः संगमेन अलम्। इति शतकृत्वः तत्त्वम् आलोचयामः तदपि अन्तरात्मा हरिणाक्षीं न विस्मरति ॥ ५९ ॥

अनुवादः—दूती के द्वारा पुरोहित ने कहलवाया कि अत्यन्त चतुरता, स्वप्न की समानता तथा नीरसता की पूर्णता के कारण स्त्रीसंगम

मत करो। इन स्त्रियों के विषय में हम सैकड़ों बार तत्त्व की आलोचना करें फिर भी हरिण के समान नेत्रों वाली को अन्तरात्मा भुलाता नहीं है ॥ ५९ ॥

व्याख्याः—यह श्लोक बहुत ही मार्मिक है। इसमें नारी स्वभाव तथा उनके प्रति आसक्ति के विषय में बताया गया है। पुरोहित ने कवि से कहलवाया कि ये नारियां बहुत ही चपल होती हैं। इनके साथ प्यार करना स्वप्न की माया के समान है। जिस प्रकार स्वप्न में मनुष्य भिन्न-भिन्न प्रकार के कार्य करता है। अनेकों प्रकार के सुख और दुःख भोगता है। उस समय ऐसा लगता है, मानो वह साक्षात् भोग कर रहा हो; परन्तु स्वप्न की समाप्ति पर सब कुछ समाप्त हो जाता है। मात्र उसकी अनुभूति ही शेष रह जाती है। उसी प्रकार स्त्रियों का संगम एक स्वप्न है; जो कभी भी टूट सकता है। यह संगम सरस होते हुये भी नीरस है। नीरस ही नहीं नीरसता की परिणति हैं, क्योंकि कभी कभी तो इनके संगम से जीवन इतना नीरस हो जाता है; कि मनुष्य कहीं का नहीं रहता। नारी से निरास होकर कालिदास तुलसीदास और सूरदास समाज में प्रतिष्ठित तो अवश्य हो गये परन्तु उनका व्यक्तिगत जीवन तो दुःखमय ही बीता। विरक्ति से वैराग्य और उससे प्रतिष्ठा यदि मिल गयी तो यह तो अपवाद ही कहा जायेगा। सभी का तो ऐसा नहीं हो सकता। कितनों का जीवन उजड़कर रह गया।

इसी स्त्रीसंगम के विषय में आगे और कहते हैं कि यदि सैकड़ों बार तत्त्व को विचारें अर्थात् सोचें कि स्त्रीसंगम अच्छा नहीं होता इसमें नीरसता ही हाथ पड़ती है। इन स्त्रियों का सङ्गम एक स्वप्न है जो कभी भी टूट सकता है। यह सब जानते हुये मनुष्य उन्हें भुलाना चाहता है परन्तु जैसे ही वह हरिण जैसी आँखों वाली सामने आती हैं। तो उसे भुलाने को बजाय स्वयं को ही भुला देता है। वह मनुष्य की अन्तरात्मा में इतनी

गहराई से प्रवेश कर जाती हैं कि उन्हें निकालना कठिन ही नहीं असम्भव हो जाता है ॥ ५९ ॥

टिप्पणी:—यह श्लोक प्रस्तुत पाण्डुलिपि में नहीं है परन्तु चौर-पंचाशिका की पूर्वपीठिका में उपलब्ध है। श्लोक मालिनी छन्द में प्रतिवद्ध है "न न मय य युतेयं मालिनी भोगिलोकैः", गीति काव्य के बीच में छन्द परिवर्तन का कोई औचित्य न होने के कारण यह प्रक्षिप्त अंश है ॥५९॥

के वा न सन्ति भुवि वारिरुहावतंसा,
हंसावली वलयिनो जलसन्निवेशा ।
किं चातकः फलमवेक्ष्य स वज्रधारां,
पौरंदरीं कलयते नववारिधारां ॥ ६० ॥

अन्वयः—वारिरुहावतंसा हंसावली वलयिनः वा जलसन्निवेशाः भुवि के न सन्ति। (तदपि) सः चातकः किं फलम् अवेक्ष्य वज्रधारां नववारिधारां पौरन्दरीं कलयते ॥ ६० ॥

अनुवादः—इसी को कवि उत्तर देता है कि कमल का कर्णभूषण धारण करने वाले अथवा हंस पंक्ति की करधनी पहनने वाले जलाशय पृथ्वी पर कितने नहीं है। फिर भी पपीहा क्या फल देखकर विजली की चमक वाले तथा नवीन जल की धार वाले इन्द्र से प्राप्त वर्षा के जल की ही इच्छा करता है ॥ ६० ॥

व्याख्या:—इस श्लोक में कवि ने शशिकला में दिव्य सौन्दर्य की कल्पना की है। वह शशिकला को भूलोक की नारी न मानकर देवलोक की नारी मान रहा है। अतः वह उसी प्रकार उसके लिए व्याकुल है जिस प्रकार पपीहा कमलों एवं हंसों से विभूषित पृथ्वी के जलाशयों के जल को छोड़कर इन्द्र से प्राप्त नवीन जलवाले वर्षा के जल के लिये व्याकुल रहता है ॥ ६० ॥

टिप्पणीः—प्रस्तुत पाण्डुलिपि में यह छन्द भी नहीं है अतः यह भी प्रक्षिप्त है यहाँ चौरपंचाशिका की पूर्वपीठिका से लेकर अनुवाद किया गया है ॥ ६० ॥

श्रुत्वा कवीन्द्रवचनं नृपपूज्यविप्रो,
राजान्तिकं पुनरगाच्छ्रुतसर्ववृत्त ।
सम्प्राप्य भूपमितरेषु जनेष्वसत्सु,
ह्यूचे मनोगतवचश्च पुरः पुरोधो ॥ ६१ ॥

अन्वयः—श्रुतसर्ववृत्तः नृपपूज्यविप्रः पुरोधाः कवीन्द्रवचनं श्रुत्वा पुनः राजान्तिकम् अगात् । इतरेषु असत्सु जनेषु भूपं सम्प्राप्य पुरोधाः मनोगतवचः ऊचे ॥ ६१ ॥

अनुवादः—दूती के द्वारा समस्त वृत्तान्त को जानकर राजा भी पूज्य ब्राह्मण पुरोहित, कवीन्द्र (विह्लण) के वचन को सुनकर फिर राजा के पास गया और दूसरे असज्जन लोगों के बीच में राजा को पाकर उनके सामने अपने मन में स्थित बचन को बोला ॥ ६१ ॥

श्रीवीरसिंह नृपवीर विपक्षवीर
मत्तेभकुम्भरिपुसिंहसमानसारः ।
वैदेशिकः स्वकुललाञ्छनमातनोति,
श्रुत्वापि तत्खलु भवान् क्षमतेऽत्र चित्रम् ॥६२॥

अन्वयः–विपक्षवीर ! नृपवीर ! श्रीवीरसिंह ! मत्तेभकुम्भसिंहसमानसारः वैदेशिकः स्वकुललांच्छनम् आतनोति । तत् श्रुत्वापि भवान् क्षमते खलु । अत्र चित्रम् ॥ ६२ ॥

अनुवादः—पुरोहित ने राजा से कहा कि हे मतवाले हाथी के गण्ड-स्थल को विदीर्ण करने वाले सिंह के समान शत्रु के मस्तक को विदीर्ण करने वाले रिपुसिंह श्री वीरसिंह ! विदेशी (शत्रु राजा) अपने कुल को

लाञ्छन लगा रहे हैं। इसे सुनकर भी आप क्षमा कर रहे हैं। यह आश्चर्य की बात है॥ ६२ ॥

वंशार्चितेन कथिते वचने नृवीरो,
जज्वाल वह्निरिव वातविवृद्धवेगः।
आहूय तत्प्रियसखीश्चरितं च पृष्ट्वा,
ताभ्यः समस्तमपि भूपतिराससाद ॥ ६३ ॥

अन्वयः—वंशार्चितेन वचने कथिते नृवीरः वातविवृद्धवेगः वह्निः इव जज्वाल। तत् प्रियसखीः आहूय ताभ्यः च समस्तं चरितं पृष्ट्वा भूपतिः आससाद ॥ ६३ ॥

अनुवादः—कुल के पूज्य पुरोहित के (इस प्रकार) वचन कहने पर महाराज वीरसिंह वायु से बढ़े हुये वेग वाले अग्नि की भांति जलने लगे फिर उन्होंने शशिकला की प्रियसखियों को बुलाकर और उनसे समस्त वृत्तान्त को पूँछ कर कवि को बुलवाया ॥ ६३ ॥

ज्ञात्वा स्वयं सकलमर्थमनर्थमूलं,
प्रोवाच शेषवशगः शुभमन्त्रिणस्तान्।
जारस्य किं भवति मन्त्रिभिरेवमुक्तं,
शूलाधिरोहणमिति क्रियतां च तस्य ॥ ६४ ॥

अन्वयः—शेषवशगः (नृपः) अनर्थमूलं सकलम् अर्थं स्वयं ज्ञात्वा तान् शुभमन्त्रिणः प्रोवाच। अत्र जारस्य किं भवति। शूलाधिरोहणं क्रियताम्। एवं मन्त्रिभिः उक्तम् ॥ ६४ ॥

अनुवादः—क्रोध के वशीभूत हुये राजा वीरसिंह ने अनर्थ के मूल समस्त रहस्य को स्वयं जानकर उन अपने श्रेष्ठ मंत्रियों से कहा कि जार का क्या दण्ड होता है ? तब शूली पर चढ़ा दिया जाय ऐसा मंत्रियों ने कहा ॥ ६४ ॥

टिप्पणी:—इस श्लोक में पाठभेद पाया जाता है। इसके काश्मीरीय पाठ में "जारस्य" के स्थान पर "चौरस्य" तथा "मंत्रिभिरेवमुक्तम्" के स्थान पर "शासनमत्रयोग्यम्" पाठ पाया जाता है। अर्थ तो दोनों प्रकार से वही निकलता है। परन्तु काश्मीरीय पाठ की अपेक्षा यह पाठ अधिक समीचीन प्रतीत होता है। 'चौरः' के स्थान पर जार शब्द का प्रयोग अधिक उपयुक्त है क्योंकि जार शब्द का अर्थ ही होता है चोरी से संभोग करने वाला ॥ ६४ ॥

भूपाज्ञया सपदि वर्षधरैर्विगाढं-
तन्नीयमानमुपलक्ष्य जनस्त्ववोचत् ।
चौरः किमेव सुकविः प्रभुरत्नहारी,
लोकोक्तिरेवमभवन्नगरे समस्ते ॥ ६५ ॥

अन्वयः—भूपाज्ञया वर्षधरैः विगाढं तं सपदि नीयमानम् उपलक्ष्य जनः तु अवोचत्। किम् सुकविः एव प्रभुरत्नहारी चौरः। एवं समस्ते नगरे लोकोक्तिः अभूत् ॥ ६५ ॥

अनुवादः—राजा की आज्ञा से अन्तःपुर के सेवकों के द्वारा बाँधकर उस श्रेष्ठ कवि को सभा में ले जाते हुये देखकर लोगों ने कहा कि क्या यह श्रेष्ठ कवि ही महाराज के कन्यारूपी रत्न को चुराने वाला चोर हैं ? ऐसी अफवाह समस्त नगर में फैल गयी ॥ ६५ ॥

द्वारि स्थितामथ निरीक्ष्य नरेन्द्रपुत्रीं,
नेत्रच्छटां प्रदधतीं स उवाच कान्ताम् ।
बालेऽधुना सुरवधूरमणाय यामि,
गत्वा गमिष्यति पुनः कविबिल्हणस्त्वाम् ॥६६॥

अन्वयः—अथ नेत्रछटां प्रदधतीं द्वारि स्थितां कान्तां नरेन्द्रपुत्रीं निरीक्ष्य सः (कविः) उवाच। हे बाले। अधुना सुरवधूरमणाय यामि (अयं) कविबिल्हणः गत्वा त्वां पुनः आगमिष्यति ॥ ६६ ॥

अनुवादः—इसके बाद नेत्रों की शोभा को धारण करने वाली द्वार पर खड़ी हुयी राजपुत्री शशिकला को देखकर वह कवि बोला। हे बाले! मैं अब देवाङ्गनाओं के साथ रमण करने के लिये जारहा हूं और यह कवि जाकर के तुम्हारे पास पुनः आयेगा॥ ६६॥

व्याख्याः—इस श्लोक में कवि का शशिकला के प्रति अगाध प्रेम प्रतीत होता है। इसीलिये वह मरने के बाद पुनः जन्म धारण कर उसके पास आने की आकांक्षा कर रहा है। साथ ही वह शशिकला में इतना अनुरक्त है कि उसके समक्ष देवाङ्गनायें भी तुच्छ है। इसलिये वह उनके साथ रमण करने के बाद भी चन्द्रकला के पास पुनः आना चाहता है॥ ६६॥

टिप्पणीः—काश्मीरीय पाठ में 'गत्वा गमिष्यति' के स्थान पर 'नैवागमिष्यति' पाठ है जिसका अर्थ होता है कि फिर कभी नहीं आयेगा, इस पाठ से कवि के कथन में करुणा तो है परन्तु अप्रतिम प्रेम की अनुभूति नहीं है। तथा न ही शशिकला के प्रति अपूर्व आकर्षण ही ध्वनित है अतः यह पाठ उपयुक्त नहीं हैं। जो भी हो कवि के कथन में काव्यत्व विद्यमान है॥ ६६॥

तद्दर्शनाय विविधा द्विजराजयस्ताः,
नानाविधाश्च विबुधा अपि बाहुजाश्च।
वैश्यास्तथेतरजनाः नृपसेवकाश्चे-
त्यन्येप्रदद्रुवुरहो विधिरेवमुक्त्वा॥ ६७॥

अन्वयः—तद् दर्शनाय विविधा द्विजराजयः नानाविधाः विबुधा अपि बाहुजाः वैश्याः च तथा इतरजनाः नृपसेवकाः च अन्येऽपि 'अहो विधिःएव' इति उक्त्वा प्रदद्रुबुः॥ ६७॥

अनुवादः—जल्लादों द्वारा बांधकर ले जाते हुये उस कवि विह्लण को देखने के लिये अनेकों प्रकार के ब्राह्मणों की पंक्तियां यही नहीं विशिष्ट

विद्वान् और क्षत्रिय, वेश्य तथा दूसरे लोग एवं राज सेवक तथा अन्य भी "अरे भाग्य ही है" ऐसा कहकर दयार्द्र होने लगे ॥ ६७ ॥

व्याख्या:—प्रस्तुत श्लोक में कवि ने जनसमुदाय को अचानक उभरी हुयी भावना का स्वाभाविक वर्णन किया है। सभी लोग 'हाय भाग्य' हे भगवान् कहकर कवि को दशा पर दुःखो होने लगे ॥ ६७ ॥

विशेषः—यहाँ किसी भी घटना को देखने के लिये उत्सुक जन समुदाय की स्वाभाविक वर्णन प्रस्तुत होने के कारण स्वभावोक्ति अलङ्कार है ॥ ६७ ॥

नार्यो नरेन्द्रतनयागुरुवीक्षणार्थ-
माजग्मुराशुगमनेऽपि विलासवत्यः ।
काचित्करेण दधती परिधानवस्त्रं,
काचिद्विमुञ्चति करादपि कञ्चुकीं स्वाम् ॥६८॥

अन्वयः—नरेन्द्रतनयागुरुवीक्षणार्थं विलासवत्यः नार्यः आशु आजग्मुः। गमनेऽपि काचित् करेण परिधानवस्त्रं दधती, काचित् करादपि स्वां कञ्चुकीं विमुञ्चति ॥ ६८ ॥

अनुवादः—जल्लादों द्वारा बांध कर ले जाते हुये राजकुमारी के शशिकला के गुरु को देखने के लिये विलासवती नारियाँ शीघ्र ही आ गयीं। वहाँ जाने में कोई नारी हाथ से अपनी साड़ी को पकड़े हुये थी और कोई हाथ से अपनी चोली को गिरा रही थी ॥ ६८ ॥

व्याख्याः—यहाँ कवि विह्लण को देखने के लिये आतुर नारी स्वभाव का चित्रांकन किया गया है। किसी भी आश्चर्यजनक घटना को सुनकर नारियां प्रायः इसी तरह गमन करतो हैं फिर जब किसी प्रेमी प्रेमिका से सम्बन्धित घटना हो तो कहना ही क्या। यहाँ तो एक ऐसी अद्भुत घटना है जिसे देखना बहुत आवश्यक था। क्योंकि उन्हें विशेष आतुरता

इसलिये थी कि वे उस व्यक्ति को देखना चाहती थीं कि जो ऐसी अप्रतिम सुन्दरी राजकुमारी शशिकला का प्रेमी है। यहाँ नारी स्वभाव का वर्णन होने के कारण स्वभावोक्ति अलङ्कार है।। ६८ ॥

काचिन्निजोष्ठमधरक्षतवीक्षणार्थ-
मावर्शमेव दधती स्वकरेण चान्या।
काप्यङ्गनार्धरचितां कबरीं करेण,
पीनोन्नतस्तनतटान्तरितां दधाति ॥ ६९ ॥

अन्वयः—काचित् अधरक्षतवीक्षणार्थं स्वकरेण निजोष्ठम् आदर्शम् एवं च दधती अन्या (च) कापि करेण पीनोन्नतस्तनतटान्तरिताम् अर्धरचितां कबरीं दधाति ॥ ६९ ॥

अनुवादः—उस समय कोई सम्भोगकाल में अधरक्षत को देखने के लिए अपने हाथ में अपने ओष्ठ को और आदर्श (दर्पण) को पकड़े हुए थी तथा दूसरी कोई स्थूल और उठे हुए स्तनों के पास आती हुयी आधी संवारी हुयी जूड़ी को पकड़े हुए थी ॥ ६९ ॥

व्याख्याः—प्रस्तुत श्लोक में नारियों के स्वभाव का बहुत ही मार्मिक चित्र उपस्थित किया गया है। किसी भी आश्चर्य जनक वस्तु को देखने के लिए नारी आतुरता स्वाभाविक है। किसी नारी के प्रेमी को देखने के लिये तो नारियां और भी अधिक आतुर हो जाती हैं। फिर अद्वितीय सुन्दरी राजकुमारी शशिकला के प्रेमी को देखने के लिये क्यों न आतुर होतीं। इसीलिए नगर की समस्त नारियाँ जिस अवस्था में थीं उसी में कवि को देखने के लिये दौड़ गयीं। उस समय कवि को देखने के लिए नारियां इतनी आतुर थीं कि रात में सम्भोग के समय पति द्वारा काटे गये अधर को देखने के लिये एक हाथ में दर्पण पकड़े हुए और दूसरे हाथ से ओष्ठ पकड़े हुए ही दौड़ गयीं। यहाँ हाथ में दर्पण लेकर दौड़ना

तो सामान्य बात है परन्तु एक हाथ से ओष्ठ को पकड़ कर दौड़ना नारियों की अत्युकट दर्शन आतुरता को व्यक्त करता है।

यहीं दूसरी पंक्ति में तो कवि ने नारी स्वभाव का और भी सूक्ष्म चित्रणकन किया है। प्रायः नारियां जब अपनी चोटी बाँधती हैं। तो बालों को आगे की ओर करके गूँथतो है इसीलिये कवि ने 'पीनोन्नत स्तनतरान्तरिताम्" पद का प्रयोग किया है अर्थात् वे जो अपने केश गूंथ रही थीं वे केश मोटे और उठे हुए स्तनों के किनारे से होकर गुजर रहे थे तथा यह स्वाभाविक भी है नारियाँ अपने केश प्रायः इसी तरह गूँथती है उस काल में सुन्दरी कितनी मनोरम लगती है यह वर्णन का विषय नहीं केवल अनुभव करने का है। फिर वह नर धन्य है जिसने मोटे और ऊँचे स्तनों के बीच से गुजरते हुए केशपाशों को गूँथती हुई किसी सुन्दरी को देखा हो। इस प्रकार सुन्दरियाँ इसी दशा में कवि को देखने के लिए भाग चलीं। यहाँ नारी स्वभाव का वर्णन होने के कारण स्वाभावोक्ति अलङ्कार है॥ ६९॥

ताम्बूलमेव दधती स्वकरेण कापि,
हारावली ग्रथनतन्तुकरा कृशाङ्गी।
आलिग्य बाहुलतया स्वसखीं च कण्ठे,
योषित्प्रगच्छति गवाक्षपथं सलीलम्॥ ७० ॥

अन्वयः—कापि योषित् स्वकरेण ताम्बूलम् एव दधती प्रगच्छति, कापि कृशाङ्गी हारावली ग्रथनतन्तुकरा एव प्रगच्छति, कापि योषित् बाहुलतया स्वसखीं कण्ठे आलिग्य सलीलं गवाक्षपथं प्रगच्छति॥७०॥

अनुवादः—कोई स्त्री हाथ में पान लिये ही दौड़ रही थी तो कोई कृशाङ्गी हारावली गूँथते समय हाथ में धागे को लिये हुए भागती हुई, तथा कोई स्त्री अपनी भुजलता से गले में अपनी सखी का आलिंगन कर खिड़की की ओर जा रही थी॥७०॥

व्याख्या:—यहाँ पर ऐसी नववधुओं के विषय में कहा गया है जो बाहर नहीं जा सकती थी। वेचारो कोई हाथ में पान लिए हुए कोई, हारावली गूँथते समय धागा पकड़े हुये, अपनो सखी के गले में गलवहियां डालकर खिड़की की ओर जा रही थीं; ताकि वहीं के कवि को देख सकें।

यहाँ भी नारी स्वभाव का चित्रांकन किया है। अतः स्वभावोक्ति अलङ्कार है ॥७०॥

धृत्वा करेण गमनात् परिधानवस्त्रं,
स्रस्तं सितं कटितटाद्रसनां विमुच्य।
नाभिप्रविष्टनिखिलाभरणप्रभेण,
वातायने स्थितवती ददृशे च काचित् ॥ ७१॥

अन्वय:—काचित् गमनात् स्रस्तं सितं परिधानवस्त्रं, करेण च धृत्वा कटितटात् रसनां विमुच्य, वातायने स्थितवती नाभिप्रविष्टनिखिलाभरण-प्रभेण ददृशे ॥७१॥

अनुवाद:—कवि कहता है कि उस समय कोई स्त्री चलने से सरकी हुयी रेशमी साड़ी को हाथ से पकड़ कर, कमर के पास से करधनी को छोड़कर, खिड़की पर बैठो हुयी नाभि में प्रविष्ट समस्त आभूषण की चमक से ही देख रही थी ॥७१॥

व्याख्या:—चलने में साड़ी का सरकना स्वाभाविक है तथा लज्जा वश उसे पकड़कर चलना नारी स्वभाव है और चलते समय करधनी भी तो सरकती है। इस प्रकार आतुरतावश भागती हुयी नववधुयें जो बाहर नहीं जा सकतीं थीं खिड़की पर ही खड़ी होकर देख रहीं थीं। परन्तु वहाँ अंधेरा था। ऐसी दशा में उनकी करधनो जो सरककर नाभि के पास आ चुकी थी उसी की प्रभा से वे कवि को देख रही थी।

यहाँ पर कवि की कल्पना तो अद्वितीय है ही साथ ही करधनी का नाभि की ओर सरकना उस नायिका के स्थूलनितम्ब का द्योतक है जो

कि नारी सौन्दर्य का एक महत्त्वपूर्ण अंग है तथा करधनी की प्रभा से देखना अद्वितीय कवि कल्पना है। इसमें स्वभावोक्ति अलंकार है ॥७१॥

काचित् स्तने निपतितं करमम्बुजाक्षी,
भर्त्तुर्विहाय सहसा गतकञ्चुकापि ।
श्रुत्वा चचाल पटहध्वनितं गवाक्ष-
जालान्तरेण तमपश्यददृश्यमाना ॥ ७२ ॥

अन्वयः—काचित् अम्बुजाक्षी सहसा पटहध्वनितं श्रुत्वा, स्तने निपतितं भर्तुः करं विहाय गतकञ्चुकाऽपि चचाल। अदृश्यमाना गवाक्षजालान्तरेण तम् अपश्यत् ।७२॥

अनुवादः—कवि को देखने के लिए नारियाँ इतनी आतुर थीं कि कोई कमलनयनी तो अचानक फांसी पर चढ़ाने वाली पटहध्वनि को सुनकर स्तनों पर रखे हुये पति के हाथ को हटाकर अपनी गिरी हुई चोली को भी छोड़कर चल पड़ीं और स्वयं को न दिखाते हुए खिड़की के झरोखे से कवि श्रेष्ठ विह्लण को देखा ॥७२॥

व्याख्या—यहाँ भी कवि का वर्णन बड़ा रमणीय है यहाँ कमल-नयनी स्त्रियों का स्तनों पर हाथ रखना सम्भोगकालीन स्थिति को व्यक्त करता है। उस समय दोनों ही पूरी तरह कामातुर हो जाते हैं तथा ऐसी दशा में स्तनों पर रखे हुए पुरुष के हाथ को झटककर चोली छोड़ कर कवि को देखने के लिये भागना नारी स्वभाव को तो व्यक्त करता ही है साथ ही अद्वितीय श्रृङ्गार को भी अभिव्यक्त करता है। तथा छिपकर झरोखे से झांकना तो और भी मार्मिक है। जो कवि और प्रेयसी चन्द्रकला के अप्रतिम प्रेम एवं अप्रतिम सौन्दर्य में चार चाँद लगा देता है। नारियों को विशेषकर इस बात को उत्सुकता है कि वे देखना चाहती हैं कि कैसा है वह व्यक्ति जिसके साथ चन्द्रकलाओं की भांति

सुन्दरी राजपुत्री चन्द्रकला प्रेम करती है। यहाँ भी नारी स्वभाव का वर्णन होने के कारण स्वाभावोक्ति अलंकार है ॥ ७२ ॥

सैरन्ध्रिका समनुरंजितमङ्घ्रमेक-
मुत्क्षिप्य यावकरसं किरती तथान्या ।
लीलाविलासगमनेन मनोहरन्ती,
प्रोद्दामनूपुरवा चलिता गवाक्षम् ॥ ७३ ॥

अन्वयः—तथा अन्या सैरन्ध्रिका समनुरंजितम् एकम् अङ्घ्रं उत्क्षिप्य तथा अन्या यावकरसं किरती लीलाविलासगमनेन मनोहरन्ती प्रोद्दाम-नूपुरवा गवाक्षं चलिता ॥ ७३ ॥

अनुवादः—तथा दूसरी स्वच्छन्दचारिणी स्त्री महावर से रंगे हुए अपने एक पैर को हटाकर, उत्सुकतावश भागती हुई, महावर को बिखेरती हुई, कामोन्माद भरी लड़खड़ाती हुई चाल से मन को हरती हुई, बहुत अधिक नूपुर की ध्वनि करती हुई, खिड़की की ओर चल पड़ी थी ॥७३॥

व्याख्याः—इसमें सैरन्ध्रिका शब्द का प्रयोग स्वच्छन्दचारिणी स्त्री के लिये किया गया है। वैसे इसका अर्थ दासी भी होता है जिसके अनुसार दासी द्वारा अपनी मालकिन के एक पैर को रंगकर छोड़ना और शेष रंग को फेंक कर भागना अर्थ होता है यह अर्थ भी उपयुक्त ही है। दासी द्वारा अपनी मालकिन के भय की चिन्ता न करते हुए भी पैर बिना रंगे छोड़ना अथवा स्वच्छन्दगामिनी स्त्री का अपने प्रेमी से मिलने के लिये एक पैर को ही रंगे हुये भागना, दोनों में ही नारी आतुरता अभिव्यञ्जित है। नारी स्वभाव का स्पष्ट चित्रांकन होने के कारण यहाँ स्वभावोक्ति अलङ्कार है ॥ ७३ ॥

कामी स चापि नरराजनिदेशतस्तै-
र्वध्यावनीं प्रतिगणैरपि नीयमानः ।
दृष्टो जनैः सकरुणं नगराङ्गनाभि-
रुक्तं तदा शिव शिवेति विमोचयैनम् ॥ ७४ ॥

अन्वयः—नरराजनिदेशतः तैः प्रतिगणैः वध्यावनीं नीयमानः स कामी चापि जनैः दृष्टः। तदा सकरुणं नगराङ्गनाभिः शिव ! एनं विमोचय इति उक्तम् ॥ ७४ ॥

अनुवादः—इसके बाद महाराज की आज्ञा से उन जल्लादों के द्वारा फांसी के स्थान पर ले जाते हुए उस चन्द्रकला के प्रेमी कवि को लोगों ने देखा। तब दयापूर्वक नगर सुन्दरियों ने भगवान् शंकर से प्रार्थना करके कहा कि हे शिव ! इसको छुड़वा दो ॥ ७४ ॥

व्याख्याः—यहाँ 'कामी चापि' से कवि वैशिष्ट्य ध्वनित होता है क्योंकि विशेषता तो यही थी। कामी होते हुए उस कवि पर लोग दयार्द्र थे। जबकि कामी व्यक्ति से सब घृणा करते हैं ॥ ७४ ॥

वध्यावनीमथ निरोपितशूलरौद्रां
नीत्वा कविं वधकाः कथयांबभूवुः ।
स्नानं विधेहि परिचिन्तय देवमाद्य-
मन्ते मतिर्भवति या सुकवेः गतिः सा ॥७५॥

अन्वयः—अथ निरोपितशूलरौद्रां वध्यावनीं कविं नीत्वा वधकाः कथयांबभूवुः। स्नानं विधेहि आद्यं देवं परिचिन्तय, अन्ते या गतिः भवति सा सुकवेः गतिः ॥ ७५ ॥

अनुवादः—इसके बाद जहाँ भयंकर शूली रखी हुई थी उस वध्य भूमि पर कवि को ले जाकर जल्लादों ने कवि से कहा—स्नान कर लो और आदि देव भगवान् का चिन्तन करो, क्योंकि अन्तकाल में जैसी गति होती है वैसी ही गति कवि की होती है ॥ ७५ ॥

इत्थं समस्तजनमध्यगतो विहाय,
तां शुद्धिबुद्धिमखिलां न च किञ्चिदूचे।
तूष्णीं स्थितं तमवलोक्य पुनस्तमूचु-
रद्यापि न स्मरसि किं जगदीशमेकम् ॥ ७६ ॥

अन्वय—इत्थं समस्तजनमध्यगतः कविः अखिलां शुद्धबुद्धि तं विहाय किञ्चित् न ऊचे। तूष्णीं स्थितं तम् अवलोक्य तं पुनः ऊचुः। किम् अद्यापि एकं जगदीशं न स्मरसि ॥ ७६ ॥

अनुवाद—इस प्रकार समस्त लोगों के बीच स्थित कवि ने पूर्ण शुद्ध बुद्धि वाली उस शशिकला को छोड़कर और कुछ भी नहीं कहा। तब चुप खड़े उस कवि को देखकर जल्लादों ने फिर कहा कि क्या तुम अब भी एकमात्र संसार के रचयिता भगवान् को याद नहीं कर रहे हो ॥ ७६ ॥

व्याख्याः—कवि को तो केवल शशिकला की याद थी। अतः वह जब भी कुछ बोलता था; तो केवल शशिकला का ही नाम लेता था। शशिकला के अतिरिक्त वह और कुछ नहीं कहता था। हर समय उसके चित्त में वही समाई हुई थी। इधर जल्लादों ने कहा कि अब तुम्हारा अन्त समय है। अतः अब तो भगवान् को याद करो ॥ ७६ ॥

संसारदुस्तरपयोनिधितारणाय,
ध्यायन्ति यं विविधयोगरताः मुनीद्राः।
यः सर्वलोकहृदयाम्बुजकोशहंस-
स्तं सर्वगं स्मर सदैव विमुक्तिहेतुम् ॥ ७७ ॥

अन्वयः—संसारदुस्तरपयोनिधितारणाय विविधयोगरताः मुनीन्द्राः यं ध्यायन्ति। यः सर्वलोकहृदयाम्बुजकोशहंसः विमुक्तिहेतुं तं सर्वगं सदैव स्मर ॥ ७७ ॥

अनुवादः—जल्लादों ने कहा कि संसाररूपी दुस्तर सागर को पार करने के लिये अनेकों प्रकार के योगों में लगे हुए मुनि लोग जिसका ध्यान करते हैं। जो समस्त संसार के हृदयरूपी कमलों में हंस के समान है। मुक्ति के हेतु उस सर्वत्र गमन करने वाले ईश्वर को सदैव स्मरण करो ॥ ७७ ॥

व्याख्याः—'सर्वलोकहृदयाम्बुजकोशहंसः' का अर्थ है कि जिस प्रकार कमलों के मध्य हंस विराजमान होता है उसी प्रकार सभी के हृदय में ईश्वर विराजमान है ॥ ७७ ॥

प्रसङ्गः—जल्लादों के यह कहने पर कि अब तुम्हारा अन्तिम समय है तथा अन्त में जैसी मति होती है वैसी ही गति होती है। भगवान्, जिसको मुक्ति पाने के लिये मुनि लोग ध्यान करते हैं तुम भी उसका ध्यान कर लो, कवि कहता है—

अद्यापि तां कमलपत्रविशालनेत्रां,
नेत्रद्युतिप्रसरनिर्जितखंजरीटाम् ।
ध्यायामि शान्तिजननीं स्मरपीडनस्य,
दिव्यां च धीमिव जनाः नरनाथपुत्रीम् ॥७८॥

अन्वयः—अद्यापि तां कमलपत्रविशालनेत्रां नेत्रद्युतिप्रसरनिर्जित-खंजरीटां स्मरपीडनस्य शान्तिजननीं दिव्यां धीमिव नरनाथपुत्रीं ध्यायामि ॥ ७८ ॥

अनुवाद—कवि कहता है कि जिस प्रकार आज भी लोग कमलपत्र के समान विशाल नेत्रों वाली, नेत्रों की द्युति के प्रसार से खंजन पक्षी के नेत्रों को परास्त करनेवाली, काम पीडा को शान्त करने वाली, दिव्य सरस्वती देवी का ध्यान करते हैं उसी प्रकार मैं भी सरस्वती देवी के ही समान गुणों वाली उस चन्द्रकला का आज भी ध्यान करता हूँ ॥ ७८ ॥

व्याख्या—इस श्लोक में कवि का कुछ निजी अनुभव परिलक्षित है। जैसा कि लोग (अन्य कवि) कहते हैं कि काव्य-रचना सरस्वती देवी की घोर उपासना से ही सम्भव है इसीलिये उनका ध्यान करते हैं। परन्तु कवि इसके लिये सरस्वती के समान गुणवाली चन्द्रकला को मानता है जिसके प्रेम में तल्लीन होकर काव्य करने में समर्थ हुआ है। अन्य कवियों की तरह उसे कामपीडा की शान्ति के लिये सरस्वती देवी की उपासना अभीष्ट न होकर चन्द्रकला का ध्यान अभीष्ट है। ठीक ही है जिसके पास साक्षात् सरस्वती हो वह पुस्तकस्था सरस्वती को क्यों उपासना करेगा। वह भूख को भोजन से मिटाना अधिक उपयुक्त समझता है अपेक्षाकृत उस पर नियन्त्रण के। बात सत्य भी है। जहाँ तक काव्य रचना की बात है उसमें भी काम पीड़ा सहायक ही सिद्ध हुई है। कालिदास जैसे महान् कवि इसके उदाहरण हैं। ज्ञान और अनुभव में बहुत अन्तर है ज्ञान में कृत्रिमता और अनुभव में स्वाभाविकता सहसा झलक ही जाती है।

यहाँ धी का अर्थ सरस्वती तो है ही साथ ही इसका अर्थ बुद्धि भी है। तब कामपीडा की शान्ति करने वाली बुद्धि अर्थ ग्राह्य होता है। वह भी अनुपयुक्त नहीं है। परन्तु यहाँ इसके साथ विशेषणों का प्रयोग नहीं किया जा सकता। "नेत्रद्युतिप्रसरनिर्जितखंजरीटां" में दिव्य के नेत्रद्युति व्यञ्जित है जो विशेषण सरस्वती के लिये तो दिव्य नारी होने कारण उपयुक्त है ही परन्तु चन्द्रकला को भी दिव्य नारी घोषित करता है। प्रस्तुत विशेषण में व्यक्तिरेक अलंकार है ॥ ७८ ॥

अद्यापि तां कनकचम्पकदामगौरी
फुल्लारविन्दनयनां तनुरोमराजिम्।
सुप्तोत्थितां मदनविह्वलालसाङ्गीं
विद्यां प्रमादगलितामिव चिन्तयामि ॥ ७९ ॥

अन्वयः—कनकचम्पकदामगौरीं फुल्लारविन्दनयनां तनुरोमराजिं च सुप्तोत्थितां मदनविह्वलणलालसाङ्गीं तां (शशिकलां) प्रमादगलितां विद्याम् इव अद्यापि चिन्तयामि ॥ ७९ ॥

अनुवादः—स्वर्णिम चम्पाहार के सदृश गौरवर्णवाली, विकसित कमल की भांति नेत्रों वाली, हल्की रोमराजि को धारण करने वाली, सोकर उठी हुई काम से विह्वल होकर अलसित अङ्गों वाली उस प्रियतमा शशिकला को प्रमाद से नष्ट विद्या के समान स्मरण कर रहा हूं ॥ ७९ ॥

व्याख्या:—अपनी अतीत प्रेम कथा को स्मृति कवि के चित्त में में यथावत् विद्यमान है। उसे उसका वह शरीर लावण्य अभी तक याद है। इसी शरीर लावण्य को बताने के लिये कवि ने कनकचम्पक तथा फुल्लारविन्द विशेषणों का प्रयोग किया है। तनुरोमराजि पद से शशिकला का किशोरी होना ध्वनित होता है इस पद से वह मुग्धा नायिका तो सिद्ध हो ही रही है तथा नाभि के पास हल्की रोमराजि का होना सौन्दर्य की सर्वोत्कृष्टता द्योतित करता है जो उसे पद्मिनीं कोटि की नायिकाओं में प्रतिष्ठित करता है ॥७९॥

कवि ने अपनी प्रेमिका को इस श्लोक में सोकर उठी हुई तथा कामातिरेक के कारण शिथिल अंगों वाली बतलाया है और इसकी इस शारीरिक अवस्था की तुलना प्रमाद से शिथिल विद्या से की है। जेसे प्रमाद (आलस्य अथवा काममद) से व्यक्ति विद्या का कितना भी चिन्तन करे परन्तु वह प्राप्त नहीं होती परन्तु फिर भी वह उसके चिन्तन में लगा ही रहता है। यही दशा यहाँ कवि की है वह भी काम मद से अलसित शशिकला को ही याद कर रहा है। भले ही उसकी प्राप्ति न हो— यहाँ इस कथन से कवि को शशिकला की पुनः प्राप्ति की आशा का न होना व्यञ्जित है। यहाँ प्रमाद का अर्थ आलस्य न लेकर काम मद लेने

पर उसके शरीर की अलसता से उसकी वासना जागृत अदम्य इच्छा को अभिव्यक्ति होती है ॥७९॥

टिप्पणी—चौर-पंचाशिका में यह श्लोक यथावत् मिलता है परन्तु उसमें 'फुल्लारविन्दनयनां' के स्थान पर 'फुल्लारविन्दवदनां' पाठ उपलब्ध होता है। १३७।१८७५७६ मित पुस्तक के काश्मीरीय पाठ में यह श्लोक निम्न प्रकार है।

अद्यापि तां सुरतलब्धयशःपताकां
लम्बालकां विरहपाण्डुरगण्डभित्तिम्।
सुप्तां विलोलनयनां क्षणदृष्टनष्टां,
विद्यां प्रमादगुणितामिव संस्मरामि ॥७६॥

इसमें संयोग के बाद सोयी हुई शशिकला का वर्णन किया गया है सुरतलब्धयशपताका से कवि की काम पर विजय अर्थात् शशिकला की पूर्ण सम्भोग सन्तुष्टि प्रतिध्वनित है ॥ ७९ ॥

अद्यापि तां विकसिताम्बुजमध्यगौरं
गौरोचनातिलकमण्डितमध्यदेशः ।
ईषन्मदालसविघूर्णितनेत्रप्रान्तं
कान्तामुखं मयि मया सह गच्छतीव ॥ ८० ॥

अन्वय—अद्यापि मया सह गच्छतीव मयि विकासिताम्बुजमध्यगौरं गौरोचनातिलकमण्डितमध्यदेशम् ईषन्मदालसविघूर्णितनेत्रप्रान्तं तं कान्ता-मुखं स्मरामि ॥ ८० ॥

अनुवाद—कवि कहता कि आज भी अपने साथ चलते हुए, अपने कन्धे पर रखे हुए विकसित कमल के समान गौर वर्णवाले, गौरोचन के तिलक से मण्डित मध्यभाग वाले, थोड़े से काममद के आलस्य के कारण चारों ओर घुमाते हुए नेत्र प्रान्तवाले चन्द्रकला के उस सुन्दर मुख को याद कर रहा हूँ ॥ ८० ॥

व्याख्या—यहाँ कवि की अद्वितीय कल्पना है। वह अपनी प्रेयसी चन्द्रकला के प्रेम में इतना तल्लीन है कि शूली के सामने भी उसे ऐसा लगा है कि मानो वह कन्धे पर मुख रखी हुई चन्द्रकला के साथ चल रहा है। कहीं-कहीं 'मयि' के स्थान पर 'पथि' शब्द का प्रयोग है परन्तु वह उचित नहीं प्रतीत होता क्योंकि पथ में इस प्रकार चलने का अवसर ही कहाँ था। चलते होंगे तो भवन में ही। परन्तु 'मयि' शब्द से यह पूर्णतः स्पष्ट है कि मेरे कन्धे पर मुख रखकर चलना जो स्वाभाविक है। प्रायः प्रेमिकायें अपने प्रेमी के कन्धे पर मुख रखकर चलती है। कवि की वर्णन शैली कितनी रमणीय है जिसके शब्द-शब्द में शृङ्गार व्यञ्जित है।

यहाँ शशिकला भी अपने भाल पर तिलक लगे हुये तथा काममद से अलसित नेत्रों वाले सुन्दर मुख को कवि के कन्धे पर रखकर उसके साथ चली होगी वह स्मृति आज भी कवि को है। स्मृति नहीं कवि को ऐसा लग रहा है कि मानों शूली के समय भी वह उसी अवस्था में शशिकला के साथ हो ॥ ८० ॥

कर्णे च कुण्डलविलुण्ठितधृष्टगल्ल-
मांसं स्मरामि विपरीतरताभियोगे।
आन्दोलनश्रमजलाकुलसान्द्रचिह्नं
मुक्ताफलप्रकरविच्छुरितं प्रियायाः ॥ ८१ ॥

अन्वय—विपरीतरताभियोगे कर्णे च कुण्डलविलुण्ठितधृष्टगल्लमासं आन्दोलनश्रमजलाकुलसान्द्रचिन्हं मुक्ताफलप्रकटविच्छुरितं प्रियायाः मुखं स्मरामि ॥ ८१ ॥

अनुवाद—कवि कहता है कि मैं विपरीत रतिके समय कानों में हिलते हुये, कुण्डलों द्वारा गालों के मांस को दबाते हुये से प्रतीत होने वाले, शरीर

के संचालन के श्रम से उत्पन्न पसीने से चिह्नित और मोती समूहों से आच्छादित, प्रिया के मुख को आज भी याद करता हूँ ॥ ८१ ॥

व्याख्या—प्रस्तुत श्लोक में कवि ने अद्वितीय शृङ्गार को प्रस्तुत किया है। यहाँ सम्भोगकालीन विपरीतरति का यथार्थ चित्र खींचकर सामने रख दिया है। सुरतकाल में मोतियों की माला की कान्ति से दीप्त मुख पर पसीने की बूँदें आना तो स्वाभाविक है। साथ ही 'कर्णे च कुण्डलविलुष्ठितघृष्टगल्लमांसं' में विलुण्ठित और धृष्ट शब्द रखकर तो कवि ने अपनी विलक्षण काव्य प्रतिमा प्रदर्शन कर दिया है। ये दोनों शब्द एक साहसपूर्ण लूट को ध्वनित करते हैं। तथा वह लूट है गालों के मांस भी।

विपरीत रतिक्रिया में ऊपर स्थित सुन्दरी के गालों पर हिलते हुए कुण्डलों की यहाँ एक अनूठी कल्पना है। वे ऐसे प्रतीत होते हैं मानों कि उदण्डता पूर्वक मस्ती से गालों के मांस की लूटकर रहे हों। लूटते रहते, कोई बात नहीं; परन्तु वह भी धृष्टतापूर्वक लूटना कवि को सत्य नहीं है; परन्तु करता भी क्या लूट भी तो उसी को होती है जो लूटने याग्य हो। अतः उनको रोकने की बजाय वह भी अपनी लूट की प्रक्रिया तीव्र करता है। इस प्रकार परस्पर प्रतिस्पर्धा के साथ गालों के मांस को लूटा जाता हुआ शरीर संचालन से पसीने के बूँदों के कारण मोतियों से ढका हुआ सा प्रिया शशिकला का वह मुख कवि को आज भी याद आ रहा है कैसी अद्भुत कवि कल्पना है जिसको अन्यत्र समता नहीं है ॥ ८१ ॥

अद्यापि तां शशिमुखीं नवयौवनाढ्यां,
तां प्रेमिकां पुनरहं यदि गौरकान्ताम्।
पश्यामि मन्मथशरासनपीडिताङ्गीं
गात्राणि सम्प्रति करोमि सुशीतलानि ॥ ८२ ॥

अन्वय—मन्मथशरासनपीडिताङ्गः (अहम्) यदि अद्यापि नवयौवनारूढां गौरकान्तां शशिमुखीं तां प्रेमिकां पुनः पश्यामि। सम्प्रति गात्राणि सुशीतलानि करोमि ॥ ८२ ॥

अनुवाद—कवि कहता है कि कामदेव के बाण से पीडित अङ्गवाला मैं यदि आज भी नवयौवन से भरपूर, गौरवर्ण वाली, चन्द्रमुखी, उस प्रेमिका शशिकला को पुनः देख लूँ तो इस समय (कामदग्ध अपने अङ्गों) को अच्छी तरह शीतल कर लूँ ॥८२॥

व्याख्या—कवि ने इस श्लोक में पुनर्मिलन की अभिलाषा व्यक्त की है। यदि वह प्रेमिका उसे पुनः दिखाई दे जाये तो, आलिङ्गन-चुम्बनादि के द्वारा वह अपने कामसन्तप्त अङ्गों को अच्छी तरह शीतल कर लेता। यह तो पहले ही बताया जा चुका है कि वह काम की शान्ति काम से ही करने का पक्षधर है न कि काम पर नियन्त्रण करके। इसी तरह यहाँ भी वह उसी के अङ्गों से अपने कामसंतप्त अङ्गों को सुशीतल बनाना चाहता है; जिसके कारण उसका शरीर कामशर से पीडित हुआ है। क्योंकि कामदेव ने उस शशिकला के भौंह रूपी धनुष और अधर रूपी प्रत्यञ्चा से कानों तक खींचे हुये नेत्र रूपी बाण का प्रयोग किया है; जिसके कारण कवि का शरीर कामशर से पीडित है; परन्तु हर रोग की दवा भी तो होती है; जिस कारण से रोग हुआ है। उसे समाप्त किया जाये तो रोग की समाप्ति स्वतः सम्भव है। उस बाण का प्रभाव उसे न देखने तथा न मिलने के कारण ही है यदि वह उसे पुनः मिल जाये तो अवश्य ही सन्ताप दूर हो जायेगा। शशिमुखी शशिकला तो शीतल वैसे भी होगी क्योंकि वह तो साक्षात् शशिकला (चांदनी) ही है ॥ ८२ ॥

अद्यापि तां मनसि संप्रति वर्तते मे
रात्रौ मयि क्षुतवति क्षितिपालपुत्र्या।
जीवेतिमङ्गलवचः परिहृत्य कोपात्
कर्णे कृतं कनकपत्रमनालपंक्त्या ॥ ८३ ॥

अन्वय—अद्यापि तत् मे मनसि संप्रति वर्तते यत् क्षितिपालपुत्र्या रात्रौ मयि क्षुतवति जीव इति मङ्गलवचःपरिहृत्य कोपात् मनालपङ्क्त्या कनकपत्रं कर्णे कृतम् ।। ८३ ।।

अनुवाद—कवि कहता है कि आज भी वह दृश्य मेरे हृदय में विद्यमान है जब रात्रि में मेरे छींकने पर राजकुमारी ने "शतं जीव" इस मङ्गल वचन का क्रोध से उच्चारण न करके कानों में स्वर्णपत्र लगा लिया था ।। ८३ ।।

व्याख्या—इसमें कवि ने शशिकला के मान की दशा का वर्णन किया है। वह दृश्य कवि को अभी तक याद है जबकि दोनों में कभी किसी कारण विवाद हो गया था जिससे कुपित प्रेमिका ने अपने आभूषण भी उतार दिये थे परन्तु जब सुरतिक्रिया के समय प्रेमी को छींक आ गयी जिसे अशुभ माना जाता है। अतः उसे मङ्गल सूचक "शतं जीव" शब्द को कहना चाहिये था। परन्तु वह उसमें अपनी मानहानि समझ रही थी तथा प्रिय के प्रति अगाध प्रेम के कारण अमङ्गल को भी दूर करना चाहती थीं। अतः अमङ्गल का निवारण करने के लिए व्युत्पन्न एवं विलक्षण बुद्धि के द्वारा तुरन्त विचार कर कनकपत्र जो मानकाल में उतार फेंका था, को पुनः धारण कर लिया। जिससे अमङ्गल का निवारण हो गया क्योंकि आभूषण सौभाग्य का चिह्न होता है।

यहाँ कवि द्वारा किया गया मानिनी नायिका का मानकालीन स्वाभाविक वर्णन बड़ा ही मार्मिक है। मान में प्रायः प्रेमिकायें आभूषणों को अवश्य उतार फेंकती हैं तथा सुरतकाल में छींक भी प्रायः आ ही जाती है जो अधिक उत्तेजना की द्योतक है। इस प्रकार इस श्लोक में कवि ने जिस मनोरम शृङ्गारिक घटना को चित्रित किया है वह वास्तव में स्तुत्य है "जीवेति मङ्गलवचः" पद ध्वनि की दृष्टि से विशेष महत्त्व का है जिसका प्रयोग छींकने पर सर्वत्र प्रचलित है।

"कर्णे कृतं कनकपत्रमनालपंक्त्या" के द्वारा यह शंका होती है कि नायिका ने स्वर्णपत्र स्वयं पहना अथवा नायक को पहनाया कुछ लोगों के अनुसार नायिका ने नायक को पहनाया यह माना जाता है क्योंकि कीथ ने स्वर्ण को जीवनदायक माना है ॥ ८३ ॥

अद्यापि तां सकलमण्डलतुङ्गनासा-
मुत्तुङ्गपीवरपयोधरभारखिन्नाम् ।
सम्पीड्य बाहुयुगलेन पिबामि वक्त्रं,
प्रोन्मत्तमधुकरः कमलं यथेष्टम् ॥ ८४ ॥

अन्वयः—अद्यापि उत्तुङ्गपीवरपयोधरभारखिन्नां तां बाहुयुगलेन सम्पीड्य प्रोन्मत्तवत् मधुकरः यथेष्टं कमलं तद्वत् सकलमण्डलतुङ्गनासं वक्त्रं पिबामि ॥ ८४ ॥

अनुवादः—आज भी मैं अत्यधिक उन्नत और पीन (मोटे) स्तनों के भार से खिन्न, उस शशिकला को दोनों भुजाओं से दबाकर, समस्त मुख-मण्डल में ऊँची नासिका वाले, उसके मुख को उसी प्रकार इच्छानुसार पान कर रहा हूँ जिस प्रकार कि उन्मत्त भ्रमर कमल का पान करता है ॥ ८४ ॥

व्याख्या—यहाँ कवि की उपमा बहुत ही सुन्दर है। श्लोक में आया 'पिबामि' पद कवि की चन्द्रकला के प्रति अत्यन्त तल्लीनता प्रकट करता है। कवि उसके प्यार में यह भी भूल गया है कि वह कहाँ और किस स्थिति में खड़ा है। शूली के सामने भी उसे तो ऐसा लग रहा है मानो उन्नत और स्थूल स्तनों वाली चन्द्रकला को बाहों में दबाकर उसके ऊँची नासिका वाले मुख को पीरहा हो। वह भी यों ही नहीं जैसे कि एक मदमत्त भ्रमर कमल का पान करता है। यहाँ पर उत्प्रेक्षा अलंकार है ॥ ८४ ॥

अद्यापि तां कुटिलकोमलकालकेशा-
मुन्निद्रतामरसपत्रविशालनेत्राम् ।
प्रोत्तुङ्गपीवरकठोरपयोधराभ्यां
ध्यायामि चेतसि यथैव गुरूपदेशः ॥ ८५ ॥

अन्वयः—यथैव गुरूपदेशः तथैव (अहं) कुटिलकोमलकालकेशाम् उन्निद्रतामरसपत्रविशालनेत्रां प्रोत्तुङ्गपीवरकठोरपयोधराभ्यां तां अद्यापि चेतसि ध्यायामि ॥ ८५ ॥

अनुवाद—जिस प्रकार लोग गुरु के उपदेश का ध्यान करते हैं। उसी प्रकार मैं कोमल और काले केशों वाली, खिले हुये कमल पत्र के समान विशाल नेत्रों वालीं और अत्यधिक उठे हुये मोटे और कठोर स्तनों वाली उस शशिकला का आज भी अपने चित्त में ध्यान करता हूं ॥८५॥

व्याख्या:—"उन्निद्रतामरसपत्रं विशालनेत्राम्" में विशाल नेत्रों की उपमा खिले हुए कमल पत्र से दी गयी है। परन्तु कमल पत्र तो विकसित होता ही नहीं। अतः यह उपमा उचित नहीं है। इसके निराकरण के लिये ही कवि ने उन्निद्र शब्द का प्रयोग किया है। जिसका अर्थ है जगा हुआ। अतः प्रातःकाल में जब कमल विकसित होता है वही उसका उन्निद्रावस्था मानी जा सकती है। उस समय उसके विकसन के साथ साथ उसके इधर उधर के दो पत्र भी तनकर कमल की शोभा को बढ़ा देते हैं। उस समय ऐसा लगता है कि मानों कि वे सोकर जगे हैं। आँखों के समान वे भी दो ही होते हैं तथा उन्निद्र कमल पत्रों की सुन्दर नेत्रों से उपमा समुचित और सारगर्भित है। उन नेत्रों की कमनीयता की कल्पना तो विकसित कमल को देखकर ही की जा सकतीं है। ऐसे नेत्र पद्मिनी स्त्री के होते हैं ॥ ८५ ॥

स्तनों के सौन्दर्य के विषय में कवि ने उसकी तीन विशेषताएँ बतायी हैं। प्रथम स्तन मोटे होने चाहिए; परन्तु वे मोटे स्तन जो लटकते हों उसकी सारी सुन्दरता को नष्ट कर डालते हैं। इसलिये कवि ने प्रोत्तुङ्ग शब्द का प्रयोग किया है। अतः मोटे होने के साथ उनकाउन्नत होना भी आवश्यक है तथा फिर यदि वे कठोर भी हों तो कहना ही क्या! इस प्रकार शशिकला के स्तनों में ये तीनों ही गुण विद्यमान थे; जिससे उसके अप्रतिम सौन्दर्य की तो प्रतीति होती ही है साथ ही उसका कौमार्य को व्यञ्जित होता है।

इस श्लोक के प्रथम तथा तृतीय चरण में अनुप्रास के प्रयोग से काव्यत्व और भी अधिक उत्कर्ष को प्राप्त हो गया है॥ ८५॥

अद्यापि तां कचकुन्दसमानदन्तां-
तिर्यग्विवर्तितविलोलविलोचनां ताम्।
यस्याः मुखं नहि मनागपि विस्मरामि
चित्ते सदा कृतमिवेह कृतोपकारम्॥ ८६॥

अन्वयः—अद्यापि कचकुन्दसमानदन्तां तिर्यक्-विवर्तित-विलोल-विलोचनां तां (स्मरामि) यस्याः मुखं मनाक् अपि न विस्मरामि (सा) कृतं कृतोपकारम् इव इह चित्ते सदा (वर्तते)॥ ८६॥

अनुवादः—कवि कहता है कि आज भी मैं खिले हुए चमेली के फूल के समान दांतों वाली, तिरछे घूमने वाले चञ्चल नेत्रों वाली, शशिकला को याद कर रहा हूँ जिसके मुख को में थोड़ा सा भी नहीं भूलता हूँ। उसका मुख 'बहुत बड़ा उपकार करने वाले व्यक्ति के समान सदैव मेरे चित्त में रहता है॥ ८६॥

व्याख्याः—भावुक कवि का हृदय चन्द्रकला द्वारा किये गये प्यार को बहुत बड़ा उपकार मान रहा है। क्योंकि पूर्वोक्त अलौकिक सौन्दर्य एवं गुणों से सम्पन्न शशिमुखी शशिकला ने स्वयं जिसके लिये अपनी देहलता को ही समर्पित कर दिया हो इससे बड़ा और क्या उपकार हो सकता है।

कवि ने दांतों की उपमा विकसित चमेली के फूल से दी है अर्थात् चमेली का फूल जितना श्वेत होता है उतने ही श्वेत उसके दांत थे तथा तिरछे और चञ्चल नेत्र सौन्दर्य के परिचायक तो हैं ही साथ ही उसके मुग्धा होने को भी सूचित करते हैं ॥ ८६ ॥

अद्यापि तत्सरलमञ्जुलतुङ्गनासं,
किञ्चित्स्मितोल्लसितमांसलपाण्डुगल्लम् ।
पश्यामि पूर्णशरदिन्दुसमानकान्तिं
कान्तामुखं विकचचंपकपत्रनेत्रम् ॥ ८७ ॥

अन्वकः—अद्यापि सरलमञ्जुलतुङ्गनासं किञ्चित्-स्मित-उल्लसित मांसल-पाण्डुगल्लं विकचचंपकपत्रनेत्रं पूर्णशरदिन्दुसमानकान्तं तत् कान्तामुखम् पश्यामि ॥ ८७ ॥

अनुवादः—कवि कहता है कि आज भी मैं सीधी मनोहर और ऊँची नासिका वाले, कुछ मुस्कराहट के कारण उल्लसित मांसयुक्त गालों वाले, और खिले हुए चम्पा के पत्र के समान नेत्रों वाले शरत्कालीन पूर्ण चन्द्रमा की भांति कमनीय कान्तामुख को देख रहा हूँ ॥ ८७ ॥

व्याख्याः—प्रस्तुत श्लोक में कवि ने शशिकला के मुख की विशेषताओं पर प्रकाश डाला है। उसने यहाँ शशिकला की नासिका, कपोल और नेत्रों के सौन्दर्य को ही बताया है। नासिका के विलक्षणत्व में उसने

उसकी उन समस्त विशेषताओं को प्रदर्शित कर दिया है जो एक सुन्दर नासिका में होनी चाहिये। इसके लिये कवि द्वारा प्रयुक्त "सरलमञ्जुल-तुङ्ग" विशेषण बहुत ही सारगर्भित है। यह तो सर्वमान्य है कि तुङ्ग अर्थात् ऊँची नाक सुन्दर होती हैं परन्तु यदि वह सरल (सीधी) न होकर कुछ टेढ़ी हो तो सुन्दरता में अवश्य बाधक होगी। अतः नाक सरल तुङ्ग होनी चाहिए। परन्तु कभी कभी ये दोनों गुण होने पर भी नाक की सुन्दरता बाधित हो जाती है इसीलिये कवि ने मञ्जुल शब्द का भी प्रयोग किया है अतः यदि वह मनोहर भी है तो कहना ही क्या। ये तीनों ही गुण चन्द्रकला की नाक में थे फिर क्यों न कवि उस मुख को याद करता ॥ ८७ ॥

कपोलों में भी कवि ने 'किञ्चित्स्मितोल्लसितमांसलपाण्डुगल्लं' पद का प्रयोग कर विलक्षणत्व स्थापित किया है। मांस से भरे हुए पाण्डु-वर्ण के कपोल खूब सूरत होते हैं पाण्डुवर्ण का अर्थ केवल पीत नहीं अपितु श्वेत मिश्रित पीत होता है। अतः स्वर्णिम आभा से युक्त मांसल कपोल जब मन्द मन्द मुस्कान से उल्लसित होते होंगे तो पता नहीं उस समय उसके मुखारविन्द से कितना सौन्दर्य टपकता होगा।

आँखों की उपमा कवि ने विकचचंपकपत्र से दी है। विकच का अर्थ खिला हुआ है परन्तु चम्पा का पत्ता तो खिलता नहीं। उसका खिलना पूर्णतः फैलकर अपने यौवन पर आना है। पूर्ण रूप से फैला हुआ चम्पा का पत्र ठीक आंख के ही आकार का होता हैं। अतः यह उपमा समीचीन ही है।

मुख की सुन्दरता के लिये इन तीनों की ही सुन्दरता आवश्यक है नाक कपोल और आंखें। ये तीनों ही जिसके सुन्दर हों वही वास्तव में सुन्दरी कही जा सकती है तथा ये तीनों ही गुण शशिकला के मुख में थे, फिर भला क्यों कवि उसे याद न करता ॥ ८७ ॥

अद्यापि तन्मदनकार्मुकभङ्गुर-
भ्रूदन्तद्युतिप्रकरकर्बुरिताधरोष्ठम् ।
कर्णावसक्तविपुलोज्ज्वलनेत्रपत्रं
स्मरासि सततं सुमुखं हि तस्याः ॥ ८८ ॥

अन्वयः—अद्यापि मदनकार्मुकभङ्गुरभ्रूदन्तद्युतिप्रकरकर्बुरिताधरोष्ठं कर्णावसक्तविपुलोज्ज्वलपत्रनेत्रं तस्याः सुमुखम् अद्यापि चित्ते सततं स्मरामि ॥ ८८ ॥

अनुवादः—कवि कहता है कि कामदेव के धनुष के समान टेढ़ी भौंहों वाले, दांतों की कान्ति से रंग-विरंगे अधरोष्ठ वाले, कानों तक फैले हुये विशाल और उज्ज्वल नेत्र वाले चन्द्रकला के उस सुन्दर मुख को आज भी मैं लगातार अपने चित्त में स्मरण करता हूँ ॥ ८८ ॥

व्याख्या:—सुन्दरी की भ्रूवक्रता उसकी सुन्दरता का प्रतीक है। क्योंकि भोंह को कामदेव का धनुष माना गया है अतः उनका धनुषाकार होना ही भ्रूसौन्दर्य का परिचायक है। यह तो सर्वमान्य सिद्धान्त है कि धनुष को जितना खींचा जाता है वह उतना ही अधिक वक्र होता चला जाता है तथा जब बाण को उस पर रखकर कानों तक खींचकर प्रहार किया जाता है तो वह अत्यन्त गहरा घाव करता है अथवा प्राण ही हर लेता है। अतः अतिशय भ्रूवक्रत्व के साथ यदि किसी नायिका के कानों तक खिचे हुये नेत्र हों तो समझिये कि कामदेव कानों तक खींचे हुये बाण को धनुष पर रखकर घूम रहा है। फिर यदि वह बाण किसी पर चल गया तो अत्यन्त गम्भीर घाव ही नहीं प्राणघातक भी हो सकता है ॥ ८८ ॥

अतः यह वास्तविकता है कि कमनीय कामिनी की अत्यधिक टेढ़ी भौंहों के मध्य कानों तक फैले हुये नेत्र हों तो उसका एक ही कटाक्ष कामी

को घायल करने के लिये पर्याप्त है। ऐसी कामिनियां बहुत कम पायी जाती हैं परन्तु कवि की प्रेयसी शशिकला इन सभी गुणों से सम्पन्न थी।

इसीलिये कवि को उसका कामदेव के धनुष के समान टेढ़ी भोंहों वाला दांतों की कांति से चमचमाते अधरों वाला तथा कानों तक फैले हुते विशाल नेत्रों वाला मुख आज भी याद है।

याद क्यों न हो कामदेव ने उसके भोंह रूपी धनुष पर नेत्र रूपी बाण को कानों तक खींचकर कवि के हृदय पर चलाया है। इसीलिये वह उन्मत्त हो गया है। क्योंकि कामदेव का प्रथम बाण तो मदन करता है तथा उसके बाद उन्मादन होना स्वाभाविक है तथा बाण जितना गहरा घाव करता है उन्मादन उतना ही अधिक होता है यहाँ कवि की उन्मत्त अवस्था है इसीलिये उसे शूली के समक्ष भी वही शशिकला और उसका वह सुन्दर मुख दिखाई दे रहा है।

'दन्तद्युतिप्रकरकर्वुरिताधरोष्ठ' पद के प्रयोग से कवि ने यहाँ एक अद्भुत वर्णनशैली का प्रयोग किया है काश्मीरीय पाठ में दन्तद्युति के स्थान पर दन्तक्षत शब्द का प्रयोग है इसमें दन्तद्युति अधिक उपयुक्त है कर्बुरित शब्द का अर्थ चितकबरा (रङ्ग-विरङ्गा) होता है। परन्तु दन्तक्षत से कर्बुरित होना कुछ अच्छा नहीं लगता। अतः दन्तद्युति से कर्बुरित होना ही अभीष्ट है क्योंकि उसके अधर तो लाल-लाल थे ही। उन अधरों पर पड़ी हुयी दांतों की श्वेत कान्ति से उनका रङ्ग-विरङ्गा होना स्वाभाविक है।

लाल-लाल अधरों के मध्य प्रस्फुटित होने वाली दन्तपंक्ति का कवि ने यह अद्भुत दृश्य उपस्थित किया है जिससे कवि की विलक्षण काव्य-प्रतिमा प्रतिध्वनित है ॥ ८८ ॥

टिप्पणी—काश्मीरीय पाठ में इस श्लोक का चतुर्थ पाद कुछ भिन्न है। वहाँ इसके स्थान पर 'पुनः पुनरपीह मुखं स्मरामि' है जो 'चित्ते स्मरामि सततं सुमुखं हि तस्याः' की अपेक्षा हीनकोटि का है क्योंकि सततं का अनेकशः अधिक स्मरण व्यग्रता को ध्वनित करता है साथ ही सकार पुनः पुनः से प्रयोग में अनुप्रास की छटा भी दर्शनीय है। अतः यह अधिक उपयुक्त है ॥ ८८ ॥

अद्यापि तज्झटितिवक्रीकृतकंधराग्रा
न्यस्तैकपाणिकमलां स्वनितम्बबिम्बे।
वामांसपार्श्वलतदुल्ललकेशपाशां
पश्यामि मां प्रतिभ्रूबहुशः क्षिपन्तीम् ॥ ८९ ॥

अन्वयः—झटितिवक्रीकृतकंधराग्रा स्वनितम्बबिम्बे न्यस्तैकपाणिकमलां वामांसपार्श्वलतदुल्ललकेशपाशां मां प्रति बहुशः भ्रूक्षिपन्तीं ताम् अद्यापि पश्यामि ॥ ८९ ॥

अनुवादः—कवि कहता है कि जब मैंने उसे सुरतहेतु पकड़ा था; तो लज्जा वश उसने झटके के साथ अपने कन्धे को घुमा लिया था। उस समय उसका एक हाथ नितम्ब बिम्ब पर रखा हुआ था और बांये कन्धे पर घने-घने केश लहरा रहे थे और जो बार-बार मेरी ओर अपनी भौंहें घुमा रही थी। ऐसी वह सुन्दरी उसी तरह मुझे अभी भी दिखाई दे रही है ॥ ८९ ॥

व्याख्याः—प्रस्तुत श्लोक में सुरतकाल के पूर्व नारी स्वभाव का स्पष्ट चित्रांकन है। यह स्वाभाविक है कि सर्वप्रथम प्रेमी जब सुरत हेतु प्रेमिका के शरीर पर हाथ रखता है। उस समय लज्जावश प्रेमिका का मुख कन्धे की आर मुड़ ही जाता है तथा प्रायः बांये ओर ही अधिक मुड़ता है तथा उसका एक हाथ नितम्बों पर सहसा चला जाता है

ताकि उसका प्रेमी उसे नग्न न कर दे। उस समय कन्धे पर रखा हुआ घने-घने बालों वाला और बार-बार भौंहें घुमाने वाला प्रेमिका का मुख प्रेमी को और भी अधिक आतुर बनाता चला जाता है फिर जब वह प्रेमिका चन्द्रकला जैसी सुन्दरी हो तो कौन जितेन्द्रिय होगा जो स्वयं को सम्हाल सके। अतः कवि हृदय को वहाँ आतुर होना ही था हुआ भी यही। इसीलिये वह दृश्य आज भी उसके मस्तिष्क में विद्यमान है।

यहाँ नारी स्वभाव का स्वाभाविक वर्णन होने के कारण स्वभावोक्ति अलङ्कार है ॥ ८९ ॥

अद्यापि मामवगण्य कृतापराध-
मापादमूलपतितं सरसा चलन्तीम्।
वस्त्रांचलं मम करोद्धतमाक्षिपन्तीं
मामेति रोषपरुषं वदतीं स्मरामि ॥ ९० ॥

अन्वय—कृतापराधम् आपादमूलपतितं माम् अवगण्य मम करोद्धतम् वस्त्रांचलम् आक्षिपन्तीं मा मा इति रोषपरुषं वदन्तीं सरसा चलन्तीम् अद्यापि स्मरामि ॥ ९० ॥

अनुवाद—कवि कहता है कि अपराधी मेरे द्वारा पैरों से लेकर सिर तक क्षमा माँगने पर भी मेरी अवज्ञा (उपेक्षा) कर क्रोध से कठोर वचन बोलती हुयी मेरे हाथ से पकड़े गये वस्त्रांचल को छीनती हुयी धीरे-धीरे चलने वाली उस चन्द्रकला को मैं आज भी याद कर रहा हूं ॥ ९० ॥

व्याख्या:—श्लोक में आया कृतापराध शब्द यह प्रश्न उपस्थित कर देता है कि कवि ने क्या अपराध किया ? दो प्रेमियों के बीच और क्या अपराध हो सकता है ? हो सकता है कि कहीं कसकर दन्तक्षत, नखक्षत कर दिया हो जिससे वह नाराज हो गयी हो। प्रायः ऐसा होता ही है। कभी-कभी अचानक जोर से दन्तक्षत या नखक्षत करने पर प्रेमिका नाराज होकर ठीक उसी प्रकार करती है जैसा कि इस श्लोक में कहा गया है।

उस समय पैरों से लेकर सिर तक क्षमा मांगने पर भी उसकी उपेक्षा कर पकड़े हुये वस्त्रांचल को खींचकर क्रोधपूर्ण बचन बोलती हुयी मन्द मन्द गति से चल ही देती है। परन्तु दन्तक्षत तथा नखक्षत माँगने पर भी अवज्ञा कर चल देना उचित नहीं प्रतीत होता। इससे इसके साथ किया गया प्रथम सम्भोग ही ध्वनित हो रहा है। क्योंकि प्रथम सम्भोग के बाद मुग्धा नायिका का क्रोधित होना स्वाभाविक है। यह स्त्री स्वभाव है तथा ऐसा प्रायः होता है। बाद में भले ही सब कुछ ठीक हो जाये।

इससे ऐसा लगता है कि कवि को कामकला का अच्छा ज्ञान है। इसीलिये तो वह उसको पैरों में गिरकर मनाता है। कामशास्त्रियों ने बताया है कि मानिनी नायिका नायक का हाथ पैरों की तरफ पहुँचते ही प्रसन्न हो जाती है और नायक की बाँहों में प्रविष्ट हो जाती है। परन्तु यहाँ इतने पर भी कठोर वाक्य बोलने का कारण प्रथम सम्भोगजन्य अपार पीड़ा है जो उसके कौमार्य-भङ्ग की स्पष्ट सूचना दे रही है। परन्तु यह पीड़ा तो एक बार सभी को होती है जिसे वह कष्ट न समझ आनन्द ही समझती है यह एक ऐसी पीड़ा है जिसकी अनुभूति सुखात्मक होती है ॥ ९० ॥

अद्यापि तामतिविशालनितम्बबिम्बां
गम्भीरनाभिकुहरां तनुमध्यभागाम् ।
अम्लानकोमलमृणालसमानबाहुं
लीलालसांचितगतिं मनसि स्मरामि ॥ ९१ ॥

अन्वयः—अतिविशालनितम्बबिम्बां गम्भीरनाभिकुहरां तनुमध्यभागाम् अम्लानकोमलमृणालसमानबाहुं लीलालसांचितगतिं ताम् अद्यापि मनसि स्मरामि ॥ ९१ ॥

अनुवादः—कवि कहता है कि अत्यधिक विशाल और गोल नितम्बों वाली, गम्भोर नाभि-विवर वाली, पतली कमर वाली, बिना मुर्झाये हुये कोमल दण्ड के समान भुजाओं वाली, सुन्दर गति वाली उस चन्द्रकला का आज भी मैं अपने मन में स्मरण करता हूं ॥ ९१ ॥

व्याख्याः—कवि ने यहाँ शशिकला के शारीरिक सौन्दर्य का वर्णन बहुत ही उचित ढङ्ग से किया है। केवल मुखमण्डल का सुन्दर होना ही सुन्दरता नहीं है। शरोर का प्रत्येक अङ्ग सुन्दर होना चाहिये। वैसे अङ्ग तो बहुत हैं तथा उसके सभी अङ्ग सुन्दर थे परन्तु यहाँ कवि ने केवल नितम्ब नाभि-विवर कमर और भुजाओं को कमनीयता का ही वर्णन किया है क्योंकि उसे इस समय केवल चन्द्रकला के साथ सुरतकाल के बाद की स्थिति की ही स्मृति है। अतः इस स्थिति में सम्भोग में अधिक प्रयुक्त होने वाले अङ्गों की याद आना स्वाभाविक है।

नायिका के बड़े-बड़े दोनों नितम्बबिम्ब गहरी नाभि पतली कमर और विना मुर्झाये हुये कोमल कमलदण्ड के समान दोनों भुजायें ये सभी शारीरिक सौन्दर्य की पराकाष्ठा हैं। ऐसी सुन्दरी की सुन्दर चाल किसको नहीं मोह लेगी। भुजाओं को कमलदण्ड से उपमा देना उनमें कोमलता तथा स्निग्धता को सूचित करना है ॥ ९१ ॥

अद्यापि तल्लसितनारनिमीलिताक्ष-
मास्यं स्मरामि सुतरां सुरतावसाने।
तत्कालनिःश्वसितनिह्नुतचन्द्रकान्ति-
स्वेदोदबिन्दुपरिबिन्दुरितं प्रियायाः ॥ ९२ ॥

अन्वय—सुतरां सुरतावसाने तत्कालनिःश्वसितनिह्नुतचन्द्रकान्ति स्वेदोदविन्दुपरिबिन्दुरितं लसितनारनिमीलिताक्षं प्रियायाः तत् आस्यम् अद्यापि स्मरामि ॥९२॥

अनुवाद—कवि कहता है कि सफल सुरत के बाद जिस समय वह गहरी साँसे ले रही थी उस समय ऐसी लगती थी मानों कि उसने चन्द्र-कान्ति को अपने में छिपा लिया हो तथा पसीने की बूंदों से जो मुख बिन्दूरित अर्थात् बूंदों से भरा हुआ था और जिस मुख की खुलती बंद होती आँखों में जल की बूंदें झिलझिला रहीं थीं ऐसा वह प्रिया का मुख मुझे आज भी याद आ रहा है ॥ ९२ ॥

व्याख्या—इस श्लोक में बहुत पाठ भेद है काश्मीरीय पाठ में "नार-निमोलिक्षाक्षमास्यं, के स्थान पर "तारकमीक्षितास्यं" पाठ है परन्तु मुझे यहाँ "नारनिमीलिताक्षमास्यं" ही अधिक उपयुक्त लगा है क्योंकि नार जल को कहा जाता है अतः जल से बंद की हुई आँखों वाला मुख अर्थ होगा जो उचित ही है। प्रायः मुग्धा नायिका के साथ सम्भोग करने पर ऐसी स्थिति हो ही जाती है उसके नेत्रों में आँसुओं का आना स्वाभाविक है तथा यहाँ कवि की प्रेमिका मुग्धा ही है। अतः इसमें सन्देह नहीं कि सम्भोगजन्य पीडा से उसकी आँखें जलमग्न न हुयी हों अतः यह पाठ ही समीचीन है ॥ ९२ ॥

टिप्पणी:—श्लोक के चतुर्थ चरण में परिबिम्बरितं तथा 'परिदन्तु-रितम्' पाठ मिलते हैं। मुझे ये दोनों ही पाठ उचित नहीं लगते। क्योंकि परिदन्तुरितं शब्द का अर्थ दाँतों से काटा हुआ या दानेदार है। यह माना जा सकता है कि पसीने आने से मुँह पर दाने से दिखाई देने लगते हैं। परन्तु यह शब्द यहाँ श्रुतिकटुत्व पैदा करता है। उधर बिम्बरित शब्द का अर्थ स्पष्ट न होने के कारण उचित नहीं हैं अतः यहाँ पर 'परि-बिन्दुरितं' होना चाहिये। जो किसी भी पाण्डुलिपि में नहीं है परन्तु अर्थ की दृष्टि यह सबसे अधिक उपयुक्त है। क्योंकि इसका अर्थ है मुख पर पसीने की बूंदों का होना जो यहाँ अपेक्षित है।

समस्त श्लोक में कवि ने सम्भोग के बाद की दशा का वर्णन किया है। सुरत के बाद कान्ति का मलिन हो जाना श्वासों का तेज होना आंखों में आँसुओं का झलकना और मुखमण्डल पर पसीने की बूंदों का आना स्वाभाविक है। अतः यहाँ स्वभावोक्ति अलंकार है ॥ ९२ ॥

अद्यापि तामपिकृतागसि दृष्टभावा
संभाषयत्यपि मुहुर्निगृहीतवाचाम् ।
अन्तर्निरुध्य गुरुगम्यसवाष्पकण्ठं
निःश्वासशुष्यदधरं रुदतीं स्मरामि ॥ ९३ ॥

अन्वयः—दृष्टभावा (सा) गुरुगम्यसवाष्पकण्ठं निःश्वासशुष्यद्-अधरं अन्तःनिरुध्य कृतागसि मयि संभाषयत्यपि मुहुः निगृहीतवाचां रुदतीं ताम् अद्यापि स्मरामि ॥ ९३ ॥

अनुवाद—कवि कहता है कि जिसकी प्रेम-भावना को मैंने अच्छी तरह देखा है ऐसी वह चन्द्रकला गुरु के सम्भोग करने के कारण आंसुओं से रुँधे हुये गले को और सुरतकालीन श्वासों से सूखे हुये अधर को अन्दर ही अन्दर छिपा कर अपराधी मेरे बोलने पर भी अपनी बोली को रोकती और रोती हुयी मुझे आज भी याद आ रही है ॥ ९३ ॥

व्याख्या—यहाँ सुरत के अवसान का कितना मनोरम वर्णन कवि ने प्रस्तुत किया है। यह तो पहले भी स्पष्ट हो चुका है कि काव्य की नायिका मुग्धा है तथा सुरत के बाद मुग्धा नायिका का मुख अश्रुपूरित होना स्वाभाविक है। वह भी प्रथम संभोग में तो ऐसा अवश्य होता है तथा वहाँ पर प्रथम संभोग पूर्व श्लोकों से पूर्ण रूपेण अभिव्यञ्जित हो रहा है। इसीलिये वह हिचक हिचक कर रो रही है और गर्म श्वासों से उसके अधर सूख गये हैं तथा इसलिये और भी अधिक रोना आ रहा है कि उसका प्रेमी उसका गुरु भी है। इसके साथ सम्भोग को वह अपराध

मान रही है। इसीलिये रोते रोते गर्मश्वासों से उसके अधर भी सूख गये हैं। उस समय वह मानकर बैठी है तथा कवि स्वयं को अपराधी मानकर बोलना चाहता है परन्तु उससे नहीं बोलती है। यह सब सुरतोत्तर स्थिति का स्वाभाविक विवेचन है। ऐसा होता ही है। उस समय प्रेयसी प्रियतम को कितनी मनोहर लगती है यह वर्णन का विषय नहीं। फिर चन्द्रकला जैसी अप्रतिम सुन्दरी को जिसने इस अवस्था में देखा हो। उसे एक शूली तो क्या सात जन्मों तक शूली पर चढ़ाया जाय तब भी नहीं भुला पायेगा। फिर भला कवि कैसे भूलता जो भी हो यहाँ कवि ने सुरत के बाद की दशा का स्वाभाविक वर्णन करने में अद्वितीयत्व प्राप्त कर लिया है ॥ ९३ ॥

अद्यापि तां सुकमनीयनितम्बवस्त्रां
पश्यामि साध्वसरसाकुलविह्वलाङ्गीम् ।
एकेन गुत्थनिहितेन करेण पाणि-
मन्येन नाभिकुहरादवतीं मदीयम् ॥ ९४ ॥

अन्वय—एकेन गुत्थनिहितेन करेण अन्येन मदीयं पाणि नाभिकुहरादवतीं साध्वसरसाकुलविह्वलाङ्गीं सुकमनीयनितम्बवस्त्रां ताम् अद्यापि पश्यामि ॥ ९४ ॥

अनुवाद—कवि को आज भी वह दृश्य दिखाई दे रहा है। जबकि उसके सुरत के लिये नितम्बवस्त्र की ओर हाथ बढ़ाया था। उस समय भय के कारण शशिकला का समस्तशरीर पसीने से लथपथ और व्याकुल हो गया था तथा उस समय उसने अपने एक हाथ को अपने गुप्ताङ्ग पर रख लिया था तथा दूसरे हाथ से मेरे हाथ को अपने नाभिविवर (ढोंढी) से इधर उधर को हटा रही थी। ऐसी सुकमनीय नितम्ब वस्त्र वाली वह चन्द्रकला कवि को शूली के समय भी दिखाई दे रही है ॥ ९४ ॥

व्याख्या—इस श्लोक में कवि ने अद्वितीय शृंगार रस का वर्णन प्रस्तुत किया है। इस वर्णन में यह प्रथम सहवास से पूर्व की स्थिति अभिव्यञ्जित है। क्योंकि पहले प्रेमी का हाथ नीवी की ओर बढ़ते ही मुग्धा नायिका का समस्त शरीर पसीने से तर और विह्वल हो जाता है; क्योंकि उसे यह भय होता है कि पता नही सुरत में कितना कष्ट होता होगा। इसलिये वह एक हाथ से गुप्ताङ्ग को ढकती हुयी दूसरे हाथ से नाभिविवर से होकर नीवि की ओर बढ़ते हुये प्रेमी के हाथ को बार-बार हटाती है। परन्तु उसका यह सब क्रिया-कलाप काम का अवरोधक न बनकर और अधिक उत्तेजक बन जाता है। उस समय के उस मनोहर दृश्य को भला कैसे भुलाया जा सकता है? वह चन्द्रकला जैसी सुकमनीय कामिनी के साथ जिसकी यह घटना घटी हो एक शूली तो क्या असंख्य शूलियां भी उसे नहीं भुला सकती ॥ ९४ ॥

यहाँ कवि की वर्णन-शैली इतनी सुरम्य बन गयी है कि शब्दों में प्रशंसा नहीं की जा सकती। 'साध्वसरसाकुलविह्वलाङ्गी' पद का प्रयोग करके तो कवि ने संभोग की स्वाभाविकता के चरमोत्कर्ष को ही जीत लिया है। यहाँ साध्वस का अर्थ भय है ॥ ९४ ॥

अद्यापि तां रहसि दर्पणमीक्षमाणां
संक्रान्तिमत्प्रतिनिभं मयि पृष्ठलीने।
पश्यामि वेपथुमतीं च ससम्भ्रमां च
लज्जाकुलां समदनां वशविभ्रमां च ॥ ९५ ॥

अन्वय—रहसि मयि पृष्ठलीने दर्पणं प्रतिनिभं संक्रान्तिमत् ईक्षमाणं वेपथुमतीं ससम्भ्रमां वशविभ्रमां लीलालसां समदनाम् अद्यापि पश्यामि ॥ ९५ ॥

अनुवाद—कवि कहता हैं कि दर्पण देखती हुयी उस चन्द्रकला के मेरे छिप जाने पर और दर्पण के सामने होने के कारण दर्पण में प्रति-

विम्बित होजाने पर कांपती हुयी भयभीत कामक्रीडा से थकी हुयी कामोद्वेलित, अत्यन्त प्रेम के कारण अस्थिर मन वाली, वह चन्द्रकला मुझे आज भी दिखाई दे रही है ॥ ९५ ॥

व्याख्या—एकबार कभी चन्द्रकला दर्पण में अपने दन्तक्षत और नखक्षत के चिह्नों को देख रही थी। उसी समय कवि उसके पीछे आकर खड़ा हो गया। उस समय दर्पण में प्रतिबिम्बित उसको देखकर संकोचवश वह कांपने लगी और अत्यन्त भयभीत कामक्रीडा से अलसित कामोद्वेलित और अत्यन्त प्रेम के कारण अस्थिर मनवाली हो गयी थी ॥९५॥

इस श्लोक में कवि ने नारी-स्वभाव का यथार्थ चित्र खींचा है सुरतकाल में नखक्षत और दन्तक्षत को देखने के लिये दर्पण लेते ही दर्पण में प्रिय के प्रतिबिम्बित होने पर संकोचवश नारी शरीर का कांपना स्वाभाविक है। वह भी मुग्धानायिका में तो यह स्थिति अवश्य होती है। कवि का यह श्लोक बहुत ही मार्मिक है। इसकी कीथ ने भी प्रशंसा की है। नारी जाति में पुरुषाधिक काम तो होता ही है परन्तु उसको नियन्त्रित करने के लिए पुरुषाधिक लज्जा भी होती है जो उसके सौन्दर्य में चार चांद लगा देती है। नारी-कितनी ही कामोत्कण्ठित हो परन्तु प्रिय से स्पष्ट निवेदन नहीं, कर सकती। यही नहीं अपितु कामविषयक प्रत्येक बात पर वह लजाती है। विशेषकर मुग्धा नायिका में तो यह गुण अवश्य होता है। अतः प्रेमी द्वारा चिह्नित वदन को दर्पण में देखते समय सहसा प्रेमी का उपस्थित हो जाना ही संकुचन के लिये पर्याप्त था परन्तु यहाँ तो दर्पण में संभोगकालीन चिह्नों को देखती हुई शशिकला के समक्ष न आकर उसके पीछे से देखना है। परन्तु दर्पण में उसकी आकृति तो दिखाई देगी ही। बस फिर क्या शशिकला का वदन लज्जा से कांपना स्वाभाविक है, क्यों न कांपता। इसी से वह छिपकर देख रही थी सो भी देख ली गयी। वह भी इतनी तकनीकी से। कैसा स्वाभाविक वर्णन प्रस्तुत किया है कवि ने इसके लिए वह धन्यवाद का पात्र

है। इसमें कवि ने नारी के सर्वश्रेष्ठ आभूषण लज्जा का बहुत ही मनोरम दृश्य उपस्थित किया है। नारी स्वभाव का चित्रांकन होने के कारण यहाँ स्वाभावोक्ति अलंकार है ॥ ९५ ॥

अद्यापि तां सुरभिदुर्धरगन्धलोभाद्-
बाधन्तमास्यकमलं प्रति चञ्चरीकम् ।
किञ्चिल्लसञ्चारुचकोरनेत्रां
पश्यामि केलिकमलेन निवारयन्तीम् ॥ ९६ ॥

अन्वय:—सुरभिदुर्धरगन्धलोभात् आस्यकमलं प्रति चञ्चरीकं बाधन्तं केलिकमलेन निवारयन्तीं किञ्चित् लसत्चारुचकोरनेत्रां ताम् अद्यापि पश्यामि ॥ ९६ ॥

अनुवाद—कवि कहता है कि एकवार अत्यन्त सुगन्धित गन्ध के लोभ से उसके कमलरूपी मुख पर भौंरा मंडराने लगा था; जिसे वह अपने कामक्रीडा करने वाले हाथ से जब हटा रही थी। उस समय कुछ चमकते हुए सुन्दर चकोर के समान नेत्रों वाली उस चन्द्रकला को मैं आज भी देख रहा हूँ ॥ ९६ ॥

व्याख्या—कवि ने यहाँ उस सुन्दर दृश्य का वर्णन किया है जब कि कभी चन्द्रकला के मुख पर भौंरा मंडराने लगा था उस समय उसके काटने के भय से उसे हाथ से हटाती हुयी वह बहुत ही सुन्दर लग रही थी। चन्द्रकला के मुख पर भौंरे का मंडराना उसके मुख में कमल की भ्रान्ति उत्पन्न कर देना है। क्योंकि भौंरा प्रायः कमल का ही रसपान करता है तथा उसी में रात को निवास भी करता है। चन्द्रकला का मुख विल्कुल कमल के ही समान था। इसीलिये भौंरा उसके मुख को कमल समझकर रसपान करने के लिये मुख के चारों ओर मंडराने लगा। क्यों न मंडराता वह मुख भी तो कमल के समान मनोहर और उसी के समान गन्धवाला था। अतः यहाँ, मुख में कमल की भ्रान्ति होने के कारण भ्रान्तिमान् अलंकार है ॥ ९६ ॥

कवि ने भौंरे का हाथ से हटाने में 'केलिकमलेन' शब्द का प्रयोग किया है जिससे यह स्पष्ट रूप से भौंरे के साथ साथ कवि को भी इस बात की भ्रान्ति होती है कि जैसे कोई प्रेमिका कामक्रीडा के समय अपने हाथ से प्रिय को हटाती है। उसी तरह वह भी हटा रही है परन्तु वह भौंरा उसके अधर का पान करने को कटिबद्ध है। अतः यहाँ भौंरे में कवि को अपने प्रतिद्वन्द्वी की भ्रान्ति हो गयी है। इस पद्य में यह भी ध्वनित होता है कि जिस प्रकार यह मुझे कामक्रीडा रूपी हाथ से हटाती थी। उसी प्रकार इसे भी हटा रही है। अतः इसका यह वारण मात्र औपचारिक है। यह इसे मन से नहीं हटाना चाहती; अपितु इसके साथ कामविनोद कर रही है। केलिकमल का अर्थ यह कामक्रीडा करने वाला हाथ लिया गया है। वैसे इसका अर्थ जल और चरण भी होता है। हो सकता है कि उसे कामक्रीडा करने वाले जल से भगाया जा रहा हो क्योंकि स्त्रियां प्रायः जल से भी तो प्रिय के साथ क्रीड़ा करती है। जो भी हो यह शब्द बहुत ही उपयुक्त है क्योंकि यह कमल से भौंरे के निवारण में उपयुक्त होता है। कमल प्रायः स्वयं ही हवा के द्वारा अपने पत्ते को हिलाकर भौंरे को हटाने का नाट्य करता है। अतः यही उपयुक्त और सारगर्भित शब्द है।

उस भौंरे के निवारण के समय भौंरे को देख कर जिधर भौंरा जाता था। उधर चलते हुये चन्द्रकला के नेत्रों की उपमा कवि ने सुन्दर चकोर के नेत्रों से दे डाली है। क्योंकि चाञ्चल्य के लिये चकोर पक्षी के नेत्र प्रसिद्ध है। इसके नेत्रों में हरिण-शावक के नेत्रों से भी अधिक चञ्चलता होती है। इसीलिये कालिदास ने भी अपने रघुवंश महाकाव्य में 'चकोराक्षि' शब्द का प्रयोग किया है 'इतः चकोराक्षि विलोकयेति'।

यह श्लोक अलंकार एवं ध्वनि की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है ऐसा ही श्लोक अभिज्ञानशाकुन्तल में पाया जाता है जिसमें अपने ऊपर

मंडराते हुये भौंरे को हाथ से हटाती हुई चारों तरफ आँखें घुमाती हुइ शकुन्तला का वर्णन महाकवि कालिदास ने बहुत ही सुन्दर रीति से किया है।

वहाँ राजा दुष्यन्त अपना प्रतिद्वन्द्वी समझकर उसे मारने को तत्पर हो जाता है। वहाँ वह चंचल अपाङ्ग शकुन्तला की दृष्टि को बारबार छूने वाले, गुप्त बात करने वाले की तरह कान के पास मधुर-मधुर गुञ्जार करने वाले तथा हाथ को फेंकती शकुन्तला के अधर के पान के इच्छुक उस भौंरे को धन्य समझता है और स्वयं को भाग्यहीन समझता है। जैसा कि कहा है—

चलांपाङ्गां दृष्टि स्पृशसि बहुशः वेपथुमतीं,
रहस्याख्यायीव स्वनसि मृदुकर्णान्तिकचरः।
करौ व्याधुन्वन्त्या पिबसि रतिसर्वस्वमधरं,
वयं तत्वान्वेषान्मधुकरः! हतास्त्वं खलु कृती॥

अद्यापि तामिह इतश्च पुरश्च पश्चाद-
न्तर्बहिः पुरत एव परिभ्रमन्तीम्।
पश्यामि कोमलसरोरुहसन्निभेन,
वक्त्रेण चारुपरिवर्तितलोचनेन॥ ९६॥

अन्वयः—अद्यापि कोमलसरोरुहसन्निभेन वक्त्रेण चारुपरिवर्तित-लोचनेन इह इतः पुरः पश्चात् अन्तः बहिः पुरत एव परिभ्रमन्तीं ताम् अद्यापि पश्यामि॥ ९६॥

अनुवाद—कवि कहता है कि कोमल कमल के समान मुखवाली, सुन्दर घूमते हुए नेत्रों वाली, यहाँ, इधर, आगे, पीछे, भीतर, बाहर, तथा सामने ही घूमती हुई उस चन्द्रकला को मैं आज भी देख रहा हूँ॥९६॥

व्याख्या—कवि चन्द्रकला के प्रेम में इतना तल्लीन है कि इस समय उसे न तो शूली ही दिखाई दे रही है और न शूली को देखने आयी लाखों

की भीड़ हीं। उसे तो केवल कोमल कमल के समान मुखवाली चन्द्रकला और इधर घूमती हुयीं उसकी सुन्दर आँखें ही सर्वत्र दिखाई दे रही हैं।

यहाँ काम की स्वाभाविक दशा का वर्णन किया गया है क्योंकि कामदेव के पांच बाण माने गये हैं जिसमें प्रथम बाण मदन है। यह प्रथम बाण ही सर्वाधिक घाव करने वाला है। सुन्दरी के भौंह रूपी धनुष पर कानों तक फैले हुए नेत्र रूपी बाणों का प्रहार जब कामदेव भी हृदय में करता है तो ऐसा घाव हो जाता है जो कभी नहीं भरता तथा जिस सुन्दरी की जितनी अधिक टेढी भौंहें और कानों तक फैले हुए नेत्र हों समझिये कि कामदेव अपने धनुष को पूरी शक्ति से खींचकर प्रहार करने की स्थिति में है तथा इधर शशिकला की अधिकतम टेढी भौंहें और कानों तक फैले हुए नेत्र तो थे हीं फिर क्यों न कवि के हृदय में तीव्र घाव पैदा होता। बस शशिकला के नेत्र रूपी बाण कवि हृदय में इस प्रकार चुभे हुए थे कि उसने उसे मदोन्मत्त बना दिया। बस फिर तो उन्मादन होना ही था। इसीलिये तो वह एक पागल की तरह सदा उसी को याद करता है वह अपने इधर-उधर आगे-पीछे बाहर-भीतर आमने-सामने केवल कोमल-वदना चारु-चकोर-नेत्रा चन्द्रकला को ही देख रहा है उसे यदि पागल कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी क्योंकि वह निश्चित ही शशिकला को पाकर गल गया था।

इस श्लोक में पाठभेद पाया जाता है। काश्मीरीय पाठ में इसकी द्वितीय पंक्ति कुछ भिन्न है वहाँ "कोमल सरोरुह" के स्थान पर 'फुल्ल-कनकाम्बुज' तथा "चारुपरिवर्तितलोचनेन" के स्थान पर "तिर्यग्नि-वर्तितलोचनेन" पाठ प्राप्त होता है। वैसे ये दोनों पाठ भी बहुत सुन्दर हैं। दोनों ही मुख और आँखों के विशेषण है। अन्तर केवल इतना है कि इसमें मुख और आँखों की कुछ विशेषता बढ़ा दी गयी है। फुल्ल····में विकसित स्वर्ण कमल के समान मुख मानकर तथा तिर्यग्···· में तिरछे

घूमने वाले नेत्र मानकर दोनों की विशेषता अधिक बढ़ गयी है परन्तु दोनों पाठों में भिन्न भिन्न भाव पाये जाते हैं। कोमल सरोरुह में कवि को उसके मुख में कोमलत्व और सौन्दर्य दोनों अभीष्ट हैं तथा फुल्ल-कनकाम्बुज में कवि उसके मुख के सौन्दर्य को प्रधान मान रहा है उसे कोमलत्व अभीष्ट नहीं है क्योंकि स्वर्णकमल सुन्दर तो होगा परन्तु कोमल नहीं हो सकता। जब कोमलता नहीं तो सौन्दर्य बेकार है। स्वर्णकमल का भाव यदि स्वर्णिम आया और कमल जैसी कोमलता दोनों लिया जाय तो माना जा सकता है। जैसा कि कालिदास ने भी पार्वती के शरीर को स्वर्ण कमलों से बना हुआ बताया है। परन्तु वहाँ वह उनके बाह्य सौन्दर्य और दिखावटी कोमलत्व के साथ साथ अन्तः काठिन्य को ध्वनित करता है। जिसके कारण वे तप कार्य में सफल हुयीं और तपस्वियों के तप को भी नीचा कर दिया।[1] परन्तु यहाँ ऐसी कोई बात नहीं हैं। यहाँ तो केवल सुन्दरता और कोमलता को बताने के लिये ही ही 'सरोहरुहसन्निभेन' और 'फुल्लकनकाम्बुज' पदों का प्रयोग हुआ है। इसमें 'सरोरुहसन्निभेन' ही अधिक उपयुक्त है क्योंकि पहले तो स्वर्ण-कमल होता ही नहीं। यदि होता भी है तो उसके विकसित होने का प्रश्न ही नहीं होता॥ ९६ ॥

अद्यापि तानि मम चेतसि संस्मरन्ति
कर्णान्तसंगतिकटाक्षनिरीक्षितानि ।
तस्याः स्मरज्वरकराणि मदालसानि,
लीलाविलासबहुलानि विलोचनानि ॥ ९७ ॥

अन्वय—तस्याः तानि कर्णान्तसंगतिकटाक्षनिरीक्षितानि मदालसानि लीलाविलासबहुलानि स्मरज्वरकराणि तानि विलोचनानि मम चेतसि संस्मरन्ति ॥ ९७ ॥

---

1. कुमार सम्भव पञ्चम सर्ग।

अनुवाद:—कवि कहता है कि उस शशिकला के कानों के अन्त तक फैले हुए सकटाक्ष दृष्टियों वाले मस्ती भरे कामक्रीड़ा और भोग-विलास से युक्त, कामज्वर पैदा कर देने वाले नेत्र मुझे आज भी दिखाई दे रहे हैं ॥ ९७ ॥

व्याख्या:—यहाँ कवि ने केवल चन्द्रकला के नेत्रों की विशेषताओं पर ही प्रकाश डाला है। क्योंकि ये नेत्र ही तो सब कुछ हैं ये ही दिलों को जोड़ते हैं और ये ही तोड़ते हैं। ये ही तो हृदय के दर्पण हैं। ये एक क्षण में मौन रूप से एक दिल की सारी कहानी दूसरे दिल को बता देते हैं। ये आँखें ही तो हैं जो किसी को अपनाती और किसी को ठुकराती है। प्रेम के तो ये प्रतीक हैं। इसीलिये इन्हें कामदेव का बाण कहा गया है। नायिका की भौंहें कामदेव का धनुष है तो नेत्र उसके बाण है तथा कानों से मिले हुए नेत्र कान तक खींची गयी धनुष की प्रत्यञ्चा के द्योतक है क्योंकि धनुष की प्रत्यञ्चा जब अधिक खींची जाती है तो बाण कान के समीप आ जाता है। अतः अत्यधिक टेढ़ी भौंहें और कानों तक फैले नेत्र बहुत अधिक खींचे हुए धनुष के प्रतीक है। जब इस स्थिति में बाण चलेगा तो घाव तो तीव्र होगा ही।

शशिकला की भौंहें तो बहुत अधिक टेढ़ी थी ही, साथ ही उसके नेत्र भी कानों तक फैले हुए थे फिर उन नेत्रों से किया गया कटाक्ष भला कवि को क्यों घायल नहीं करता ? वह भी वे नेत्र मद से युक्त और कामक्रीडा तथा विलास से भरे हुए थे इसीलिये उन्होंने कवि को कामज्वर पैदा कर दिया इसीलिये कवि की यह दशा हो रही है।

टिप्पणी—इस श्लोक में प्रयुक्त संस्मरन्ति क्रिया के अनुसार कर्ता 'तानि विलोचनानि' ही है। सभी जगह की तरह 'अद्यापि स्मरामि' या 'चिन्तयामि' उत्तमपुरुष क्रिया का प्रयोग यहाँ नहीं है। इससे यहाँ वाक्य-दोष सा प्रतीत होता है परन्तु यदि विलोचनानि को कर्ता माना जाय

तब अर्थ होगा कि उपर्युक्त विशेषताओं वाले नेत्र मेरे चित्त में मुझको याद कर रहे हैं। यहाँ 'माम्' की कल्पना करनी ही पड़ेगी। यही अर्थ उपयुक्त लगता है क्यों कि कवि को अपने मन में यह विश्वास है कि जिस प्रकार वह शशिकला के सुन्दर नेत्रों को याद कर रहा है उसी प्रकार उसके वे मदभरे संभोगेच्छुक नेत्र अवश्य ही कवि को याद कर रहें होगे, ऐसा उसके चित्त में है ॥९७॥

अद्यापि तां मयि समीपकपाटलीने
मन्मार्गमुक्तदृशमाननदत्तहस्ताम् ।
मद्गोत्रलिङ्गितपदां मृदुकाकलीभिः
किञ्चिच्च गातुमनसं मनसा स्मरामि ॥ ९८ ॥

अन्वयः—मयि समीपकपाटलीने मन्मार्गमुक्तदृशम् आननदत्तहस्तां किञ्चित् मृदुकाकलीभिः मद्गोत्रलिङ्गितपदां किञ्चित् च गातुमनसम् ताम् अद्यापि मनसा स्मरामि ॥९८॥

अनुवादः—कवि कहता है कि समीप स्थित किवाड़ के पीछे मेरे छिप जाने पर मेरे मार्ग की ओर आंखें मुख और हाथ उठाती हुयी, मधुर कोयल के समान बोली द्वारा मेरे गोत्र के नाम को पुकार कर कुछ गुनगुनाते हुये मनवाली शशिकला को आज भी मैं मन से स्मरण कर रहा हूँ। कवि को आज भी वह दृश्य नजर आ रहा है जब कि वह किवाड़ के पीछे छिप गया था तो उसने यह समझकर कि चले गये मेरे मार्ग की ओर देखती हुई मुखों की ओर हाथ बढ़ाती हुई मधुर बोली में गाती हुये की तरह मेरा गोत्र नाम पुकारा था। यह स्वाभाविक वर्णन है। प्रायः ऐसा देखा जाता है कि कपाट के समीप छिपकर प्रेमी अथवा प्रेमिका एक दूसरे की मन की इच्छा को जानना चाहते हैं कि कौन किसको कितना चाहता है। इसी को लक्ष्य करके कवि यहाँ यह बताना चाहता है कि प्रियतमा चन्द्रकला भी उसे इतना अधिक प्यार करती है कि

यदा कदा किवाड़ के पीछे छिप जाने पर वह व्याकुल हो जाती थी उस समय उसकी आंखें मुख और हाथ तीनों ही आतुरता वश उस मार्ग की ओर उन्मुख हो जाते थे जिधर वह समझती थी कि कवि गया है। यही नहीं उस उत्कण्ठा में वह अपनी कोयल जैसी मधुर बोली में कुछ गाती हुयी सी बुलाती थी। इस प्रकार यहाँ नारी स्वभाव का स्वाभाविक चित्रण है अतः स्वभावोक्ति अलंकार है तथा अपूर्व प्रेम व्यञ्जित है ॥ ९८ ॥

अद्यापि तत्तरलतारतराक्षमास्य-
मालिप्तचन्दनरसाहितपाण्डुकान्तिम् ।
कस्तूरिकाकलितपत्रलताभिरामं
गल्लस्थलं हृदि मुहुः स्थिरयामि तस्याः ॥ ९९ ॥

अन्वयः—तरलतारतराक्षम् आलिप्तचन्दनरसाहितपाण्डुकान्तिं कस्तूरिकाकुलितपत्रलताभिरामं गल्लस्थलं तस्याः तत् आस्यम् अद्यापि हृदि मुहुः स्थिरयामि ॥९९॥

अनुवादः—कवि कहता है कि हीरे से भी अधिक चमकीली, चंचल पुतली से युक्त आंखों वाले, चन्दन के रस के लेप से पीतवर्ण वाले तथा कस्तूरी की मुर्झायी हुयी पत्रलता के समान सुन्दर चन्द्रकला के उस मुख को मैं आज भी अपने हृदय में स्थिर किये रहता हूँ अर्थात् बिठाये हुये हूँ ॥९९॥

व्याख्या:—कवि ने यहां आखों के लिये तरलतारतर विशेषण का प्रयोग किया है जो अनेकार्थक है। तरल हीरे को कहा जाता है तथा तरल का अर्थ चंचल, हिलता हुआ भी है तथा तार का अर्थ चमकीला है और तार का अर्थ मोती तथा आंख की पुतली भी है। इस प्रकार तरल=हीरा तार=चमक तथा तरलतारतराक्ष का अर्थ हुआ हीरे की चमक से भी अधिक चमकीली आँखों वाला मुख तथा दूसरा अर्थ

तरल=हीरा तार=मोती तर उससे भी अधिक इस प्रकार हीरा और मोती की चमक से भी अधिक चमकीली आँखों वाला मुख अर्थ होगा। तथा तीसरा अर्थ तरल=चंचल तार आंख की पुतली इस प्रकार चंचल पुतली से युक्त आंखों वाला मुख होगा। तर शब्द यां तीव्रता का प्रतीक है।

इस प्रकार ये सभी अर्थ सार्थक हैं। परन्तु यहाँ उसके सभी अर्थों को स्वीकार करना चाहिये क्योंकि कवि को चन्द्रकला की आँखों में चमक तथा चाञ्चल्य दोनों ही अभीष्ट हैं। उसकी प्रेमिका की आंखें हीरे मोती से भी अधिक चमकीली तो हैं ही साथ ही उसकी पुतलियां भी हर समय चलायमान रहती है। तथा चञ्चल पुतलियां मदनोद्वेलित भावनाओं को व्यञ्जित करती हैं।

चन्द्रकला के मुख पर चन्दन का लेप लगा हुआ हैं इसलिये उसकी कान्ति पाण्डुवर्ण की है पाण्डुवर्ण पीले रंग का द्योतक है जो उसकी संभोग के बाद की दशा को व्यञ्जित करता है। यही नहीं इसके साथ साथ 'कस्तूरिकाकुलितपत्रलताभिरामं' शब्द से भी उसकी सुरतोत्तर दशा की प्रतोति होती है। क्योंक कस्तूरी की मुरझायी हुयी पत्रलता के समान सुन्दर गालों वाले मुख से यह पूर्णतया स्पष्ट होता है कि संभोग के कारण उसकी देहलता पूर्णतः मुरझा गयी है।

विशेषः—इस श्लोक में उपमाओं का बहुत ही सटीक प्रयोग हुआ है आंखो की चमकीली उपमा हीरा मोती की चमक से तथा—'कस्तूरिका कुलितपत्रलताभिरामं' में सुरतोत्तर मुरझाये हुये मुख की उपमा कस्तूरी की मुरझायी पत्रलता से अत्यन्त सारगर्भित और सादृश्यमूलक है ॥९९॥

अद्यापि तत्किलकुचग्रहसाग्रहेण
दन्तैर्मया दशनवाससि खण्ड्यमाने ।
तस्यामनारमुकुलिताथमलयमाणं
सीत्कारगर्भमसकृद्वदनं स्मरामि ॥१००॥

अन्वयः—कुचग्रहसाग्रहेण मया दन्तैः दशनवाससि खण्ड्यमाने तस्याम् अनारमुकुलिताथमलयमाणम् असकृत् सीत्कारगर्भम् तत् वदनम् अद्यापि (असकृत्) स्मरामि ॥१००॥

अनुवादः—कवि कहता है कि आग्रहपूर्वक कुचों को पकड़ कर जब मैंने अपने दांतों से उसके अधरों को काटा था (पिया था) तो उस समय आधे खुले और आधे बन्द अनार की तरह सुगन्ध छोड़ता हुआ और बार-बार सीत्कार करता हुआ प्रियतमा शशिकला का वह मुख मुझे आज भी याद आ रहा है ॥१००॥

व्याख्याः—इस श्लोक में कवि ने सुरतकालीन दशा का यथावत् चित्र खींच दिया है। मुग्धा नायिका अपने कुचों को प्रायः पकड़ने नहीं देती। प्रेमी आग्रह-पूर्वक खुशामद करके कुचों को पकड़ता है और फिर धीरे-धीरे कुचों को पकड़कर जब वह अपने दांतों से उसके होठों को काटता है तो उसके मुख से बार-बार सी-सी-सी की आवाज सहसा निकल ही पड़ती है। सीत्कार शब्द से यहाँ संभोग क्रिया की शुरुआत ध्वनित होती है। क्योंकि मुग्धा नायिका में यह सी-सी की ध्वनि कुच-ग्रहण और अधरपान करते ही निकलने लगतीं है। बस यही सीत्कार की आवाज उसके मुंह से निकल रही थी। उस समय शशिकला के मुख की वनावट कैसी थी। इसका भी वर्णन कवि ने बड़ी गम्भीरता से किया है। इसकी उपमा उसने अधखिले अनार से दी है। पकते समय जब अनार फटता है तो उसके सफेद दाने दिखाई देने लगते हैं। ठीक उसी तरह सीत्कार करते समय शशिकला के खुले मुख में दांत दिखाई दे रहे थे। उस समय वह मुख कितना सुन्दर होगा। इसी को कवि ने अधखुले

अनार द्वारा समझाने का प्रयास किया है। यही नहीं जिस प्रकार अनार में सुगन्ध होती है उसी प्रकार उसका मुख भी गन्ध फेंक रहा था। यहाँ मलयमाण शब्द का प्रयोग कवि ने उसके मुख की गन्ध में एक महती विशेषता भर दी है क्योंकि मलय पर्वत की हवा जब चलती है तो वह जिस पुरुष से भी टकराती है वह कामोद्वेलित हो उठता है। क्योंकि वह हवा अपने साथ चन्दन, अनार आदि सुगन्धित वृक्षों की गन्ध लेकर चलती है। अतः मुकुलित अनार के समान उसके मुख से ऐसी सुगन्ध आ रही थी जो कवि को और अधिक मस्त बनाती जा रही थी।

इस प्रकार कुचग्रहण के साथ-साथ दांतों से अधरों को काटते समय सीत्कार ध्वनि के साथ मुख का खुलना स्वाभाविक है। उस समय नायिका का मुख कितना अच्छा लगता है। यह वर्णन का विषय नहीं; और फिर जिस मुख में अनार के दानों के समान श्वेत दन्तपंक्ति हो तथा मलयगिरि की शीतल मन्द सुगन्ध हवा हो तब तो कहना ही क्या ऐसा मुख भाग्यशाली को ही मिल सकता है। ऐसा ही मुख उस चन्द्रवदना चन्द्रकला का था। इसीलिये तो वह कवि अन्तिम समय में भी बार-बार उसी मुख को याद कर रहा है॥ १०० ॥

विशेषः—इस श्लोक में कुचग्रहण एवं अधरपान करते समय नारी के स्वभाव का चित्रांकन होने के कारण स्वभावोक्ति अलंकार है और श्लोक में अद्वितीय काव्यत्व व्यञ्जित है।

काश्मीरीय पाठ में यह श्लोक दूसरे रूप में प्राप्त होता है इसके प्रथम पाद में "तत्किल कुचग्रहसाग्रहेण" के स्थान पर 'तत्किलकुचग्रहणेन-गाढं' तथा तृतीय पाद में 'तस्यामनारमुकुलिताथमलयमाणं' के स्थान पर 'तस्या मनागलसलोचनमीक्षमाणम्' पाठ पाया जाता है। वैसे यह पाठ भी ठीक है। प्रथम पाद वाले का अर्थ तो प्रायः समान है। परन्तु तृतीय पाद से श्लोक का भाव ही बदल जाता है ऐस पाठ के अर्थ के आधार

पर चन्द्रकला का कुछ अलसित आंखों वाला मुख ही परिलक्षित है, जिससे केवल कुचों का ग्रहण कर दांतों से अधरों को काटना तो ध्वनित होता है परन्तु अनार की तरह खुले मुख से सीत्कार करते हुये सुगन्धित सांसों का चलना प्रतिध्वनित नहीं होता।

उपर्युक्त विवेचन से संभोग की दशा भी अभिव्यञ्जित होती है। क्योंकि प्रायः कुच पकड़कर दांतों से होठ काटते समय अनार की तरह खुले मुख से सी सी की ध्वनि तो निकल पड़ती है परन्तु गहरी सांसें नहीं आतीं वैसे मुग्धा नायिका में तो यह स्थिति संभोग से पूर्व ही उत्पन्न हो जाती है। अतः यह संभोग के पूर्व की स्थिति का वर्णन है ॥ १०० ॥

अद्यापि तानि हृदये मम संस्फुरन्ति
बिम्बाधरोष्ठविनिकीर्णशुचिस्मितानि।
पीयूषपूरमधुराणि बहूत्तराणि
वाक्यानि मन्मथकराणि मृदूनि तस्याः ॥ १०१ ॥

अन्वयः—तस्याः बिम्बाधरोष्ठविनिकीर्णशुचिस्मितानि पीयूषपूरमधुराणि बहूत्तराणि मन्मथकराणि तानि मृदूनि वाक्यानि अद्यापि मम हृदये संस्फुरन्ति ॥ १०१ ॥

अनुवाद—कवि कहता है कि उस प्रिया शशिकला के बिम्बफल के समान अधरों पर बिखरे, मधुर मुस्कान से युक्त, अमृत से भरे बहुत से उत्तरों वाले कामोत्पादक वे कोमल वाक्य आज भी मेरे हृदय में स्फुरण पैदा कर रहे हैं अर्थात् धड़कन पैदा कर रहे हैं ॥ १०१ ॥

व्याख्या:—कवि की उपमा और कल्पना दोनों ही चरमोत्कर्ष पर हैं। कवि इसमें शशिकला के साथ बिताये गये स्वर्गिक क्षणों को याद कर रहा है जब कि वह उसके द्वारा पूछे गये प्रश्नों का उत्तर देती थी। उस समय उसे उसके बिम्बफल के समान लाल-लाल अधरों पर बिखरी

हुयी मधुर मुस्कान और उस मुस्कान के साथ अमृत भरे वाक्य अभी तक याद हैं जो वाक्य बहुत कामोत्पादक थे।

यह स्वाभाविक है कि हर प्रेमी को प्रेमिका के प्रेम भरे वचन मधुर लगते हैं फिर जब मुस्कराते हुये लाल होठों से निःसृत वचन क्यों न अमृतमय और मधुर लगेंगे। वह भी चन्द्रकला जैसी अप्रतिम सुन्दरी के। इसीलिये तो कवि अभी तक नहीं भूला है।

बिम्बफल का रंग लाल होता है तथा पकने पर तो उसकी लालिमा और भी मनोहर हो जाती है। अतः यह उपमा समीचीन ही है तथा इसका प्रयोग कालिदास ने भी अनेकत्र किया है ॥ १०१ ॥

अद्यापि तां कनकवर्णसमानवर्णा-
मुत्तुङ्गकर्कशकुचार्पिततारहाराम् ।
काञ्चीनियन्त्रितविशालनितम्बबिम्बा-
मुद्दामनूपुररणच्चरणां स्मरामि ॥ १०२ ॥

अन्वय—कनकवर्णसमानवर्णाम् उत्तुङ्गकर्कशकुचार्पिततारहाराम् काञ्चीनियन्त्रितविशालनितम्बबिम्बाम् उद्दामनूपुररणत्चरणं ताम् अद्यापि स्मरामि ॥ १०२ ॥

अनुवादः—कवि कहता है कि सुवर्ण के समान वर्ण वाली, उन्नत और कर्कश कुचों पर लटकते हुये हार वाली करधनी से नियन्त्रित विशाल नितम्बों वाली तथा नूपुरों से झनझनाते हुये चरणों वाली उस शशिकला को मैं आज भी याद कर रहा हूँ ॥ १०२ ॥

व्याख्याः—केवल मुख की सुन्दरता ही नारी सुन्दरता का प्रतिमान नहीं है। मुख के साथ साथ सर्वाङ्गसुन्दरता नारी सौन्दर्य की कसौटी है। इसके लिये कामशास्त्रियों ने विशेष अंगों की विशेषताओं पर प्रकाश डाला है। वे मुख से इतर शारीरिक अंग है। स्तन, नितम्ब, कटिभाग और चरण मोटे और कठोर स्तन सुन्दर माने जाते हैं। विशाल नितम्ब

बिम्ब भी शारीरिक सौन्दर्य के लिये आवश्यक हैं। उनके साथ साथ पतली कमर और सुन्दर चरणों का होना भी सौन्दर्य के लिए नितान्त आवश्यक है। ये सभी गुण शशिकला में थे और उसका वर्ण भी तो स्वर्ण के समान था फिर सौन्दर्य का कोई भी तत्त्व ऐसा नहीं था जो उसमें विद्यमान न हो। इस प्रकार ऊँचे उठे हुए और कठोर स्तनों एवं विशाल नितम्ब बिम्बों वाली शशिकला जिसकी पतली कमर करधनी से नियन्त्रित थी तथा सुन्दर चरणों में नूपुरों की झनाझनाहट थी। भला कवि द्वारा कैसे भुलायी जा सकती थी। बस उसी का चित्र उसके मस्तिष्क में विद्यमान है ॥ १०२ ॥

अद्यापि तां भुजलतार्पितकण्ठपाशां
वक्षस्थलं मम निपीड्य पयोधराभ्याम् ।
ईषन्निमीलितविलोलविलोचनाभ्यां
पश्यामि मद्वदनमुन्मदनं पिबन्तीम् ॥ १०३ ॥

अन्वयः–भुजलतार्पितकण्ठपाशाम् मम वक्षस्थलं पयोधराभ्यां निपीड्य ईषन्निमीलितविलोलविलोचनाभ्याम् उन्मदनं मम वदनं पिबन्तीम् ताम् अद्यापि पश्यामि ॥ १०३ ॥

अनुवादः—कवि कहता है कि वह दृश्य मुझे आज भी दिखाई दे रहा है जबकि शशिकला ने मेरे कण्ठ को अपनी भुजाओं में उसी प्रकार कस लिया था जिस प्रकार कि कोई लता लिपट कर किसी पेड़ को कस लेती है। उस समय वह अपने स्तनों से उन्मत्त हुए मेरे मुख को पी रही थी ॥ १०३ ॥

व्याख्याः—प्रस्तुत श्लोक में शशिकला के स्तनों द्वारा कवि के वक्षस्थल को दबाने से विपरीत रतिक्रिया की प्रतीति हो रही हैं। क्योंकि प्रेमिका द्वारा प्रेमी के वक्षस्थल को स्तनों से दबाते हुए प्रेमी के कण्ठ को कसकर मुख का पान करना इसी दशा में होता है। क्योंकि

इसी प्रकार की रतिक्रिया में स्त्री पूर्ण उत्तेजित होकर पुरुष के समान आचरण करने लगती है। इसी को कामान्धता कहते हैं। इस समय स्त्री असीम आनन्द की अनुभूति करती है तथा पुरुष भी परमानन्द को प्राप्त करता है। मदनालय में मदनांकुश रहते हुए जैसे ही स्त्री पुरुष के ऊपर आती है। वह कामान्ध होकर अपनी भुजाओं को प्रेमी के गले में डालकर ऐसे लिपट जाती है जैसे कोई लता किसी पेड़ से लिपटती है। बस फिर स्तनों से दबाकर आँखें बन्द करके प्रेमी के मुख को असन्तोष के साथ पीने लगती है। इस प्रकार यहाँ विपरीत रतिक्रिया का स्वाभाविक वर्णन होने के कारण स्वभावोक्ति अलंकार है॥ १०३॥

अद्यापि तानि परिवर्तितकन्धराणि
चञ्चत्कुचव्यथितकञ्चुकबन्धनानि।
तस्याः सुपल्लवमृदूज्ज्वलकुन्तलानि
विस्फुरन्ति मम चित्रविलोकितानि॥१०४॥

अन्वयः—अद्यापि तस्याः तानि परिवर्तितकन्धराणि चञ्चत्कुचव्यथितकञ्चुकबन्धनानि सुपल्लवमृदूज्ज्वलकुन्तलानि चित्रविलोकितानि मम चित्ते स्फुरन्ति॥ १०४॥

अनुवादः—कवि कहता है कि सुरतकाल के समय शशिकला के वे घूमते हुए कन्धे, चञ्चल कुचों को बांधने वाली कञ्चुकी के बन्धन और कोमल किसलय के समान कोमल और स्वच्छ केश, चित्र में देखते हुए की भाँति आज भी मेरे चित्त में स्फुरण कर रहे हैं॥ १०४॥

व्याख्याः—जिस प्रकार कोई व्यक्ति चित्र देखता है और उसी से उसके मन में स्फुरण पैदा हो जाता है उसी प्रकार यहाँ कवि को संभोग के समय शशिकला के घूमते हुए कन्धे, चोली के बन्धन चलते हुए कुच तथा बिखरे हुए केश ही दिखाई दे रहे हैं, भूली नहीं॥ १०४॥

अद्यापि तत्परिवेश शशिप्रकाशमास्यं
स्मरामि जडगात्रविवर्तनेन ।
उद्वेलपल्लवकराङ्गुलिजालगुम्फ-
दो:कन्दलीयुगलमण्डलितं प्रियायाः ।। १०५ ।।

अन्वयः—जड़गात्रविवर्तनेन उद्वोलपल्लवकराङ्गुलिजालगुम्फदो:-कन्दलीयुगलमण्डलितं परिवेशशशिप्रकाशं प्रियायाः तत् आस्यम् अद्यापि स्मरामि ॥१०५॥

अनुवादः—कवि कहता है कि निश्चल शरीर के पलटने पर कांपते हुये पल्लव रूपी हाथ की अंगुलियों के जाल से ढके हुये दोनों गालों वाले, चन्द्रमा के प्रकाश में चमकते हुये उस प्रिया शशिकला के मुख को मैं आज भी याद कर रहा हूँ ।१०५॥

व्याख्या:—यहां कवि ने नार्युचित लज्जा का यथार्थ चित्र उपस्थित किया हैं। चन्द्रमा के प्रकाश में नायक के पलटने पर नायिका अपने गालों को दो स्थितियों में ढकती है। एक तो काटने के भय से दूसरे लज्जा वश और लज्जा दो स्थितियों में होती है एक तो संभोग करने के लिये पलटने पर दूसरे संभोग करने के वाद पलटने पर। परन्तु यहां विशेष रूप से 'जडगात्र, शब्द के प्रयोग से संभोग के बाद की हो स्थिति ध्वनित हो रही है। उस समय एक तो इस बात की भी लज्जा होती है अभी अभी वह उसके साथ इस तरह यों ऐसे वैसे आलिगन चुम्बन दन्तक्षत, नखक्षत आदि क्रियायें कर रही थी उस समय तो आवेश था जोश था तथा जोश में होश नहीं था लेकिन अब तो जोश निकल गया, शरीर भी शिथिल हो गया, तब भला कैसे मुख को दिखाये तथा कैसे उन आंखों को मिलाये जिनसे कि उसने सब कुछ किया है और उसे यह भी डर था कि प्रिय कहीं गालों को न चूम ले, अधरों को न काट ले। उस समय तो यह सब सहन कर लिया था परन्तु अब न तो वह जोश

है और न आवेशही तथा अब वे कपोल दुःखने भी लगे हैं। इस लिये अंगुलियों से ढक लिये गये थे।

इस वर्णन से तथा 'जड़गात्र, शब्द से शशिकला का काम की दृष्टि से पूर्ण सन्तुष्ट होना ध्वनित होता है क्योंकि स्त्री जब पूर्णतः सन्तुष्ट हो जाती है तो निश्चेष्ट होकर गिर जाती है। अतः सुरत के वाद की दशा का स्वाभाविक वर्णन होने के कारण यह स्वभावोक्ति अलंकार है ।१०५॥

अद्यापि तामनुनयत्यपि मय्यसक्तां,
व्यावृत्य केलिशयने शयितां वराङ्गीम्
निद्राकुलमिव कलासु सुखी भवन्तीं
प्रातर्मदं सन्निहितं ककुदं स्मरामि ॥१०६॥

अन्वयः—मयि अनुनयति असक्तां व्यावृत्य केलिशयने शयितां निद्राकुलाभिव कलासु सुखी भवन्तीं प्रातर्मदं सन्निहितं ककुदं तां वराङ्गीम् अद्यापि स्मरामि ॥१०६॥

अनुवादः—कवि कहता है कि संभोग के लिये मेरे अनुनय करने पर भी जब वह तैयार नहीं हुयी, तो मैंने उसे घेर कर संभोग सैय्या पर सुला लिया था। उस समय नींद से व्याकुल की भांति सैय्या पर सोयी हुयी, सम्भोग की भिन्न-भिन्न कलाओं द्वारा सुखी हुयी और फिर प्रातः-काल मदमस्त होकर एक भुजा पर अपने मुख को रख कर वैठी हुयी, श्रेष्ठ अंग वाली, उस चन्द्रकला को मैं आज भी याद कर रहा हूँ ॥१०६॥

व्याख्याः—यहाँ इस श्लोक में अनुनयति शब्द से दो स्थितियां ध्वनित होती है। एक तो ऐसा लगता है कि सम्भवतः कभी वह नाराज हो गयी है जिसके कारण कवि को अनुनय करना पड़ा है अथवा कवि एक बार उसके साथ संभोग करके पुनः उसी समय संभोग करने के लिये मना रहा है। परन्तु यहां 'निद्राकुलां' शब्द से तुरन्त पुनः संभोग

ध्वनित हो रहा है क्योंकि प्राय: स्त्रियां एक वार सन्तुष्ट होने के वाद दुबारा संभोग के लिये तैयार नहीं होती है। बहुत मनाने पर तैयार होती भी है तो निद्राकुलां की स्थिति में शयन पर पड़ी रहती है। उस स्थिति में संभोग करने पर वह पूर्ण रूप से सन्तुष्ट हो जाती है। यही स्थिति यहाँ प्रतिध्वनित है।

विशेष:—काश्मीरीय पाठ में इस श्लोक के चतुर्थ चरण में 'सनिहितं ककुदं' के स्थान पर 'सनिहितैकभुजां' पाठ पाया जाता है। पाठ दोनों ही उचित हैं। परन्तु मुख के विशेषण की दृष्टि से 'सनिहितैकभुजां' भी ठीक है क्योंकि मदभक्त दशा में अथवा चिन्तित अवस्था में या फिर थकान में प्राय: व्यक्ति एक भुजा पर अपना मुंह रख कर वैठता है परन्तु वह भुजा रहती कन्धे के पास ही है। अत: ककुदं शब्द का प्रयोग भी अनुचित नहीं हैं। कभी-कभी चिन्ता में मुख केवल कन्धे पर टिक कर रह जाता है। वैसे भी थकान और परास्त होने में कन्धे टेकना मुहावरा प्रयोग किया जाता है। अत: यह मुहावरा पहले भी रहा होगा। जिसके अनुसार शशिकला का सम्भोग में परास्त होना ध्वनित होता है। वास्तविकता भी यही है। संभोग से परास्त नारी की यह दशा स्वाभाविक है। उसे कन्धे टेकने ही पड़ते हैं। अत: यहाँ ककुदं शब्द का प्रयोग अधिक समीचीन और सार्थक है तथा यहाँ स्वभावोक्ति अलंकार है।१०६।

अद्यापि तां शशिमुखीं पुरूषायितेषु
लम्बालकांकुलकपोलतलां स्मरामि।
आन्दोलनश्रमजलाकुलविह्वलाङ्गीं
श्वासोत्तरां च निभृतं च मुहुर्द्रवन्तीम् ॥१०६।

अन्वय:—पुरूषायितेषु लम्बालकाकुलकपोलतलाम् आन्दोलन-श्रमजलाकुलविह्वलाङ्गीं श्वासोत्तरां च निभृतं मुहुः द्रवन्तीं ताम् शशि-मुखीम् अद्यापि स्मरामि ॥१०७॥

अनुवादः—कवि कहता है कि जब सम्भोग में वह पुरूषों के समान आचरण करने लगी थी उस समय उसके लम्बे लम्बे बाल कपोल तल पर विखरे हुये थे। बार-बार शरीर संचालन की थकान से निकले पसीने से विह्वल अंग वाली थी तथा जो चुपचाप बार-बार द्रवित हो रही थी ऐसी वह चन्द्रमुखी शशिकला मुझे आज भी याद आ रही है। ॥ १०७ ॥

व्याख्या:—यहाँ कवि ने संभोग की स्वाभाविकता का स्पष्ट चित्र खींचकर प्रस्तुत कर दिया है। यहाँ कामशास्त्रीय दृष्टिकोण के आधार पर संभोग की स्वाभाविकता पर प्रकाश डाला गया है। संभोग करते समय एक ऐसी स्थिति आती है कि कामावेश में जी भरकर स्त्री पुरूष के समान आचरण करने लगती है उस समय ऐसा संभोग युद्ध होने लगता है कि स्त्री पुरूष के हर प्रहार का तुरन्त जवाब देने लगती है। वैसे यह स्थिति किसी भी प्रकार के संभोग आसन में उत्पन्न हो सकती है परन्तु कामशास्त्र के अनुसार विशेष रूप से विपरीत रति काल में ही नारी ऐसा आचरण करती है।

श्लोक की यह चतुर्थ पंक्ति बहुत ही मार्मिक है। काश्मीरीय पाठ में यह पंक्ति नहीं पाई जाती है। वहाँ इसके स्थान पर 'श्वासानिलातिसुरभी-कृतकेलिगेहाम्' पाठ पाया जाता है जिसका अर्थ है कि वह श्वास की वायु से कामक्रीडागृह को अत्यन्त सुगन्धित कर रहीं थी। इससे चन्द्रकला का पद्मिनी नायिका होना सिद्ध होता है। पाठ तो यह भी सुन्दर है परन्तु सम्भोग वर्णन की दृष्टि से उतना नहीं जितना कि 'मुहुर्द्रवन्तीम्' वाला है।

संभोग कालीन नारी दशा का स्वाभाविक वर्णन होने के कारण यह यह स्वभावोक्ति अलंकार है। ॥१०७॥

अद्यापि तां चिरगते मयि यापयन्ती
सन्मानतां गतवतीं परिवर्तमानाम्
ऊर्ध्वस्थितां किमपि संचलितां निषण्णां
शय्यां समाश्रितवतीमधिकं स्मरामि ॥१०८॥

अन्वयः—मयि चिरगते सन्मानतां गतवतीं परिवर्तमानाम् उर्ध्वस्थितां किमपि संचलितां निषण्णां शय्यां समाश्रितवतीम् यापयन्तीं ताम् अद्यापि अधिकं स्मराभि ॥१०८॥

अनुवादः—कवि कहता है कि मेरे अधिक समय तक चले जाने पर नाराज होकर जाती हुयी, घूमती हुयी, ऊपर उठती हुयी, कुछ चलती हुयी, बैठती हुयी और शैय्या पर सोती हुयी, इस प्रकार जीवन व्यतीत करती हुयी उस शशिकला को मैं आज भी अधिक स्मरण करता हूँ ॥१०८॥

व्याख्याः—इसमें कवि के अलग हो जाने पर उसके विरह में शशिकला की जो दशा है। उसका वर्णन किया गया है। कवि ने इसे देखा नहीं। यह उसकी कल्पना है अथवा हो सकता है कि कुछ समय तक अलग रहने के बाद कवि ज़ब लौट कर आया हो तो शशिकला ने ही उसे अपनी उस स्थिति के बारे में बताना हो। जो भी हो किसी की अत्यधिक याद में जो दशा होती है उसका यहाँ स्वाभाविक वर्णन कवि ने प्रस्तुत कर दिया है। कभी घूमना, कभी उठना, कभी बैठना और कभी सैय्या पर लेटना ये सभी विरह में उद्विग्न मन की दशायें हैं विरह में प्रायः ऐसा होता ही है। अतः कवि कल्पना निराधार नहीं है। उसे यह विश्वास है कि उसके विरह में उसकी प्रियतमा की शशिकला की ऐसी दशा अवश्य हो हुयी होगी इसलिये वह उमें बहुत अधिक याद आ रही है। ॥१०८॥

विशेषः—यहाँ विरहोत्कण्ठिता नारी की दशाका स्वाभाविक वर्णन है। अतः स्वभावोक्ति अलंकार है।

अद्यापि तां जघनदर्शनलालसेन
कृष्टं मयातिवसनांचलमेकपार्श्वात् ।।
मायामयेषु मधुतां मुहुराकृषन्तीं ।
मन्दालसां कुचितसर्वतनुं स्मरामि ।।१०९।।

अन्वयः—अद्यपि जघनदर्शनलालसेन मया एकपार्श्वात् अति वसनांचलम् कृष्टं मायामयेषु मधुतां मुहुः आकृषन्तीं कुंचितसर्वतनुं-मन्दालसां ताम् स्मराभि ।।१०९।।

अनुवादः—कवि कहता है कि आज भी मैं उस दृश्य को याद कर रहा हूं जब कि उसको जांघ देखने को इच्छा से मैंने उसके अतिवस नांचल (साया, लंहगा, पेटीकोट) को खींचा था। उस समय अपने उस वस्त्र को बार-बार खींचती हुयी सिकुड़े हुये शरीर वाली और मन्द-मन्द आलस्य से युक्त वह चन्द्रकला अभी भी याद आ रही है। ।।१०९।।

व्याख्या:—श्लोक में मायामयेषु शब्द कुछ खटकता है परन्तु यह बहुत ही मार्मिक और उचित है। क्योंकि यह स्त्रियों के मायावी अभिनय पर प्रकाश डालता है, जो स्वाभाविक है; क्यों कि स्त्रियां प्रायः एक बनावटा मायावी दिखाती है। वे अन्दर स तो चाहती है, परन्तु लज्जा का अभिनय कर वस्त्र को खींच कर जांघो को ढकने का प्रयास करती है। इसमें सप्तमो का प्रयोग उन नखरों के बीच होना सिद्ध करता है।'

किसी भी नारी की जांघ को देखने के लिये जब उसका प्रेमी उसके पेटीकोट को खींचता है। उस समय उसका शरीर लज्जा से संकुचित हो ही जाता है। वह दृश्य बड़ा ही मनोरम और प्रेमी के हृदय को मदहोश बनाने वाला होता है। उस समय नारी में अपार सौन्दर्य फूट पड़ता है। क्योंकि लज्जा ही नारी का सबसे बड़ा आभूषण है। नारी लजाना पुरुष को और अधिक मदोन्मत्त बनाना है। फिर यदि वह चन्द्रकला जैसी नारी हो तो कहना ही क्या ? उसे भला कवि कैसा भुला

सकता है। यहाँ नार्युचित लज्जा का वर्णन होने के कारण स्वभावोक्ति अलंकार है। ॥१०९॥

विशेषः—काश्मीरीय पाठ में इस श्लोक भी द्वितीय पंक्ति बिल्कुल भिन्न है। यहाँ पर यह "पूर्वोत्थितां मम रते बहुशः क्षिपन्तीं मन्दाक्ष-संकुचितसर्वतनुं स्मरामि' है जिसके अनुसार इसका अर्थ है कि उसको जंघा देखने की इच्छा से जब कवि ने उसके एक पार्श्व से साड़ी को हटाया था, तो वह पहले ही उठ खड़ी हुयी। उस समय लज्जा से संकुचित शरीर से अपनी आंखों को कवि पर अनेक बार फेंका था। वह दृश्य अभी भी कबि को याद आ रहा है। अर्थ दोनों ही ठीक है तथा दोनों में ही नार्युचित लज्जा का वर्णन है। ॥१०९॥

अद्यापि तामनिभृतक्रममापतन्तं-
निरीक्ष्य सहसैव मिषेण सुप्ताम्।
मन्दं मयि स्पृशति कण्टकिताङ्गयष्टि-
मुत्फुल्लगल्लफुलकां बहुशःस्मरामि ॥ ११० ॥

अन्वयः—अनिभृतक्रमम् आपतन्तं मां द्वारि वीक्ष्य सहसा एव मिषेण सुप्तां मन्दं मयि स्पृशति कण्टकिताङ्गयष्टिमुत्फुल्लगल्लफलकाम् ताम् अद्यापिं बहुशः स्मरामि ॥११०॥

अनुवादः—कवि कहता है कि एक बार जब मैं सीधे स्वभाव, धीरे-धीरे चला आ रहा था तो द्वार पर आते हुये मुझे देखकर सहसा वह बहाना बनाकर सो गयी थी। उस समय जब धीरे से मैंने उसको स्पर्श किया था तो उसके शरीर पर रोमांच खड़े हो गये थे और कपोल फूल की तरह खिल गये थे। वह दृश्य मुझे आज भी अनेकों बार याद आ रहा है ॥११०॥

व्याख्याः—कवि का यह श्लोक काव्य की कसौटी पर खरा उतरता है। इसमें कवि के आने पर बहाना बनाकर सोयी हुयी चन्द्रकला का

अंगस्पर्श होने से रोमांचित होना और प्रफुल्लित होना इसके विलास भाव को व्यञ्जित करता है तथा प्रेमी प्रेमिकाओं के प्रारम्भिक मिलन में ऐसी चेष्टायें प्रायः देखी जाती है। परन्तु ये सभी चेष्टायें प्रेमातिशय को व्यञ्जित करती है ॥११०॥

अद्यापि तां मुखगतैररुणैः कराग्रै-
रापृच्छ्यमानमपि मां न विभावयन्तीम् ।
तद्बाष्पपूरितदृशं बहुनिःश्वसन्तीं
चिन्ताकुलां किमपि नम्रमुखीं स्मरामि ॥१११॥

अन्वयः—मुखगतैः अरुणैः कराग्रैः आपृच्छ्यमानम् अपि मां न विभावयन्तीं तद्बाष्पपूरितदृशं बहुनिःश्वसन्तीं चिन्ताकुलां किमपि नम्रमुखीं ताम् अद्यापि स्मरामि ॥१११॥

अनुवादः—कवि कहता है कि मुख पर गयी हुई लाल अंगुलियों से पूछे जाने पर भी मुझसे कुछ न बोलती हुयी अश्रुपूरित नेत्रों वाली गहरी सांस लेती हुयी चिन्ताकुल और कुछ सिर झुकायी हुयी उस शशिकला को मैं आज भी याद करता हूँ ॥१११॥

व्याख्याः—यहाँ 'मुखगतैः अरुणैः कराग्रैः' से यह ध्वनित होता है कि कवि उसके मुख व अधरों पर अंगुलियों को घुमाते हुये पूंछ रहा था कि तुम क्यों नाराज हो ? इसीलिये अधरों की लाली से उसकी अंगुलियां भी रंग गयी थी। इस प्रकार लाल लाल अंगुलियों वाले हाथ को मुख पर घुमाते हुये पूंछे जाने पर भी वह कवि से नहीं बोल रही थीं परन्तु आंखों में आंसू थे, चिन्ता से व्याकुल थी तथा नीचे को सिर झुका कर गहरी गहरी सांसें ले रही थी।

यहाँ शशिकला को नाराजगी में कवि का कोई विशेष अपराध ध्वनित होता है तथा वह अपराध सम्भवतः प्रथम संभोग ही है क्योंकि गुरु के द्वारा ऐसी होना विशेष नाराजी का कारण है। इसीलिये चिन्ता-

कुल होना तथा आंसू बहना स्वाभाविक है तथा सिर झुकाने में तो इस अपराध में इसका स्वयं सम्मिलित होना भो ध्वनित होता है। इस प्रकार यहाँ प्रथम सम्भोगजन्य लज्जा का स्वाभाविक चित्रण होने के साथ साथ गुण के साथ सम्भोग से पाप की भीति, गर्भ स्थिति का भय तथा फिर माता पिता के ज्ञात हो जाने पर प्रिय के विनाश की चिन्ता की सूचना उसके आंसुओं से मिल रही है ॥१११॥

अद्यापि तां प्रथममेव गते विरामे
निर्भत्स्यमानपरुषैर्वचनैर्मुहुर्माम् ।
आन्दोलितोद्धतनितम्बसहायवृत्त्या
सञ्चिन्तयामि रतये रुदतीमभीक्ष्णम् ॥११२॥

अन्वयः—प्रथमम् एव विरामे गते आन्दोलितोद्धतनितम्बसहायवृत्त्या मानपरुषैः वचनैः मां मुहुः निर्भत्स्य रतये अभीक्ष्णं रुदतीं ताम् अद्यापि चिन्तयामि ॥११२॥

अनुवादः—कवि कहता है कि प्रथम बार ही संभोग के समाप्त होने पर संभोग काल में नितम्ब को चलाने और उठाने की क्रिया के कारण मानयुक्त कठोर वचनों से मुझको बार-बार झिड़क कर रति के लिये बहुत अधिक रोती हुयी उस शशिकला को मैं आज भी चिन्तन करता हूँ ॥११२॥

व्याख्या:—यहाँ कवि उस दृश्य का चिन्तन कर रहा है जब कि प्रथम बार ही उसने उसके साथ संभोग किया था। उस समय वह नाराज होकर कवि को झिड़क कर बहुत अधिक हिचक-हिचक कर रो रही थी। मुग्धा नायिका के साथ जब प्रथम बार संभोग किया जाता है; तो पहले तो तैय्यार होते समय ही रोती है, परन्तु प्रेमी उसे छोड़ता नहीं है। नायिका का रोना मात्र इसलिये होता है कि पता नहीं प्रथम बार क्या संकट आयेगा। मन तो उसका होता ही है, परन्तु भावी संकट की

आशंका से 'ना ना ना ना' कहती हुयी अपने अंगों को ढीला करती जाती है; और कुछ कष्ट सहती हुयी हो अपना शरीर समर्पित कर ही देती है। प्रथम बार शरीर संचालन से कुछ 'कष्ट तो अवश्य होता है परन्तु वह कष्ट सुखात्मक होता है इसीलिये वह अपने प्रिय को झिड़क कर नाराजी के साथ कठोर बचन बोलती हुयी हिचक-हिचक कर रोती है। प्रथम सहवास के बाद ऐसा होना आवश्यक होता है। अतः कवि को वह दृश्य ही अभी तक याद है। भला भूलता कैसे चन्द्रकला जैसी चन्द्रमुखी सुन्दरी को जिसने इस दशा में देखा हो वह कितना भाग्य शाली है फिर वह उसे कैसा भूलेगा। इस श्लोक में मुग्धा नायिका के साथ प्रथम बार सहवास की स्वाभाविक दशा का वर्णन होने के कारण स्वभावोक्ति अलंकार है ॥११२॥

अद्यापि तां विगलितश्लथकेशपाशां
किञ्चित्समुन्मिषितघूर्णितजिह्मनेत्राम्।
सुप्तोत्थितां विदधतीं मुहुरंगभङ्गं
पश्यामि चारुमधुरं बहुशः स्पृशन्तीम् ॥११३॥

अन्वयः—विगलितश्लथकेशपाशां किञ्चित्समुन्मिषितघूर्णितजिह्मनेत्रां सुप्तोत्थिता चारुमधुरम् अङ्गभङ्गं विदधतीं बहुशः (च)स्पृशन्तीं ताम् अद्यापि पश्यामि ॥११३॥

अनुवादः—कवि कहता है कि संभोग के बाद बिखरे हुये केशपाश वाली, कुछ खुलती बन्द होती हुयी तिरछी आंखों से मुझे घूरने वाली, सोकर उठी हुयी, बार-बार सुन्दर अङ्ग भंग धारण करने वाली तथा अनेकों बार सुन्दर और सलौने अंगों को छूती हुयी उस शशिकला को मैं आज भी याद कर रहा हूँ ॥११३॥

व्याख्या:—इस श्लोक में संभोग के बाद सोकर उठी हुयी शशिकला का वास्तविक चित्र खींचा गया है। संभोगकाल में बालों का बिखरना

स्वाभाविक है क्यों कि संभोग के बाद सन्तुष्ट होने पर (स्राव होने पर) थकान हो तो है जिससे तुरन्त नीद आ जाती है। अतः बालों का बिखरना स्वाभाविक है। इसमें ही संभोग की सफलता है क्योंकि जब संभोग सफल नही होता तो प्रेमिका को नींद ही नहीं आती। सोती भी है तो वह अपने अंगों को संभाल कर। अतः बालों के बिखरने से यहाँ पूर्ण सन्तुष्टि प्रकट होती है। संभोग के बाद सोकर उठी हुयी प्रेमिका द्वारा अलसित तिरछी निगाह से घूरना भी स्वाभाविक ही है। इसमें प्रिय के प्रति पूर्ण समर्पण की भावना प्रतिध्वनित होती है। नारी के पूर्ण सन्तुष्ट होने पर ही यह स्थिति होती है। उस समय सोने से उठकर संभोग काल में किये गये अधरों, पकड़े गये स्तनों, मसली गयी जांघों, कसी गयी त्रिवली और ताडित मदनालय को बार-बार देखती और छूती है। इसी के लिये कवि ने 'चारुमधुरां अंगभङ्गं स्पृशन्तीं', का प्रयोग कर वर्णन में असाधारणता लाती है। अतः शशिकला उस समय अपने सुन्दर अंगों को जो कि दले मले गये थे बार-बार छू रही थी ऐसी वह सुवदना शशिकला अभी तक कवि के मन में बसी हुयी है।

सुरतकाल के बाद सोकर उठी हुयी नायिका का स्वाभाविक वर्णन होने के कारण यहाँ स्वभावोक्ति अलंकार है। साथ ही इसमें शशिकला के वर्णन से कवि द्वारा उसकी पूर्ण संभोग सन्तुष्टि परिलक्षित होती है पूर्ण सन्तुष्ट नारी का यही लक्षण है। ॥११३॥

अद्यापि तां सुवदनां वलभीनिषण्णां
तद्‌गेहसन्निधिपथे मयि दृष्टिमार्गे।
नर्मोत्तरं प्रियसखीषु कृतस्मितासु
लज्जाविलक्षवदनां हृदि चिन्तयामि ॥११३॥

अन्वयः – तद्‌गेहसन्निधिपथे मयि दृष्टमार्गे नर्मोत्तरस्मितासु प्रियसखीषु वलभीनिषणां लज्जाविलक्षवदनां ताम् सुवदनाम् अद्यापि हृदि चिन्तयामि। ॥११४॥

अनुवादः—कवि कहता है कि उसके महल के पास वाले रास्ते से गुजरते समय मेरी दृष्टि के मार्ग में आयी हुयी, विलासपूर्ण हास-परिहास पूर्ण प्रश्नोत्तर करती हुयी, प्रिय सखियों के बीच महल की छत पर बैठी हुयी, लज्जा में विलक्षणा वदनवाली, उस सुवदना शशिकला को मैं आज भी हृदय में चिन्तन कर रहा हूँ। ॥११४॥

व्याख्याः—कवि को यह उस समय की घटना की याद आ रही है जब कि कभी वह राजकुमारी शशिकला के महल के पास वाले रास्ते से होकर गुजर रहा था। उस समय उसके दृष्टिपथ में प्रेयसी शशिकला आ गयी थी। उस समय उसने देखा कि प्रियतमा सुमुखी शशिकला अपनी प्रियसखियों के बीच बात-चीत करती महल की छत पर बैठी हुयी है। उस समय उसका मुख लज्जा से बहुत ही विलक्षण लग रहा था। विलक्षण से तात्पर्य है कि लज्जा के कारण मुख ऐसा तुन्दर लग रहा था कि जिसका कहीं प्रमाण हो नहीं है। लज्जाविलक्षवदना से शशिकला और सखियों के बीच हुयी संभोग सम्बन्धी बातें ध्वनित होती है क्योंकि प्रत्येक नारी अपने प्रियतम के साथ बीती घटना को अपनी प्रिय सखी को अवश्य सुनाती है, फिर जब सखियां जान लेती हैं और मजाक करती है, तो उसका सिर लज्जा से झुक जाता है यही स्थिति चन्द्रकला की है। परन्तु इसे देखकर कवि बहुत आनन्दित था। वह समझ गया था कि ये सभी प्रश्नोत्तर उसे ही लक्ष्य करके हो रहे हैं। इसीलिये उसे इसका लज्जा से झुका वदन बहुत विलक्षण लग रहा था। लगता भी क्यों नहीं क्यों कि सर्वाङ्ग सुन्दरी शशिकला जिसके विषय में बात कर लज्जाविलक्षवदना हो जाये उसे भला वह कैसे भुलायेगा॥११४॥

टिप्पणी—काश्मीरीय पाठ में 'तद्गेहसन्निधिपथे' के स्थान पर 'संदेह-संश्रितमुखे' तथा 'लज्जाविलक्षवदना' के स्थान पर 'श्रुत्वा विलक्ष्यहसितां' पाठ मिलता है जिससे पद्य का पूरा भाव ही वदल जाता है जिसके

अनुसार महल की अट्टालिका पर सखियों के साथ बात-चीत करती हुयी शशिकला पर संदेह शील कवि की दृष्टि पड़ी तो सुनकर और कवि को देख कर वह हँसने लगी। इस प्रकार हंसती हुयी शशिकला का कवि अपने हृदय में चिन्तन कर रहा है। इस प्रकार प्रेमातिशय का वाधक होने के कारण यह पाठ ग्राह्य नहीं है। ॥११४॥

अद्यापि तामनुनयत्यपि चाटुपुर्वं
कोपात् पराकृतमुखीं मयि सापराधे ॥
आलिंगति प्रसभमुत्पुलकांगयष्टिं,
सामेति निस्पृहवचो ब्रुवतीं स्मरामि ॥११५॥

अन्वयः—सापराधे मयि चाटुपूर्वम् अनुनयति अपि कोपात् पराकृत-मुखीं प्रसभाम् आलिंगति मा मा इति निस्पृहवचो ब्रुवतीम् उत्पुलकाङ्ग-यष्टिम् ताम् अद्यापि स्मरामि ॥११५॥

अनुवादः—कवि कहता है कि अपराधी मेरे प्रेमपूर्वक मनाने पर भी क्रोध से मुंह मोड़ने वाली बलात् मेरे आलिङ्गन करने पर नहीं-नहीं ऐसा अनिच्छापूर्ण वचन बोलती हुयी परन्तु रोमांचित वदन वाली उस शशिकला को मैं आज भी याद कर रहा हूँ ॥११५॥

व्याख्याः—इस श्लोक में कवि ने नारी स्वभाव का बहुत ही सुन्दर वर्णन किया है। बलवती इच्छा रहते हुये भी संभोग न करने के लिये अनुनय करना तथा फिर बलात् आलिंगन कर लेने पर क्रोध से मुख मोड़ना तथा साथ ही रोमांचित वदन होना यह सभी नारी स्वभाव है। क्यों कि नारी में पुरुषाधिक काम के साथ साथ पुरुषाधिकलज्जा भी होती है। जिसके कारण वह बलवती इच्छा रखती हुयी भी मुंह से नहीं कह सकती है। यह प्रत्येक नारी का स्वभाव है। किसी में लज्जा कम होती है किसी में अधिक, परन्तु लज्जा ही नारी का आभूषण है, क्यों कि नहीं-नहीं कहते हुये रोमांचित वदन होकर अंगों को ढीला करने से

उसमें और अधिक आकर्षण बढ़ता है। उस समय उसका सौन्दर्य कुछ विचित्र हीं हो जाता है जो पुरूष के हृदय को द्रवित कर पानी-पानी कर देता है। यह लज्जा मुग्धा नायिका में असीमित होती है। यह तो पूर्व प्रसङ्गों से ज्ञात ही है कि शशिकला मुग्धा नायिका हैं। ऐसी स्थिति में उपर्युक्त क्रियायें स्वाभाविक है। इसीलिये वह कवि को आज भी याद है। यहाँ भी स्वभावोक्ति अलंकार है ॥११५॥

अद्यापि तामुषसि तत्क्षणविप्रबुद्धां
निद्रालसां हृदि वहामि कृतांगभागाम्।
जृम्भाविदीर्घमुखमारुतगन्धलुब्ध
मुग्धभ्रमद्भ्रमरविभ्रमलोलनेत्राम् ॥११६॥

अन्वयः—उषसि तत्क्षणविप्रबुद्धां निद्रालसां कृताङ्गभागां जृम्भाविदीर्घमुखमारुतगन्धलुब्धमुग्धभ्रमरभ्रमरविभ्रमलोलनेत्रां ताम् अद्यापि हृदि वहामि ॥ ११६ ॥

अनुवादः—कवि कहता है कि उषा काल में उसी क्षण जगी हुयी, नींद के आलस्य से युक्त, संभोग के कारण अंगभंग हुयी, जम्हाई आने से खुले हुये मुख कमल की वायु की गन्ध के लोभ से मोहित होकर घूमते हुये भ्रमर की भांति चंचल नेत्र वाली, उस शशिकला को मैं आज भी हृदय में धारण कर रहा हूं ॥ ११६ ॥

व्याख्याः—कवि ने यहाँ उषाकाल में जगी हुई शशिकला का वर्णन किया है। उस समय उसकी आँखों में नींद भरी हुई है। रात्रि संभोग के कारण अंग भङ्ग हो चुके हैं अर्थात् बालविखरे हुये हैं साड़ी जहाँ जहाँ इधर उधर पड़ी हुई है, मुख मलिन है, देहलता मुरझायी हुई है ऐसी स्थिति में उसका जम्हाई लेना कवि को बहुत ही अच्छा लगा है जम्हाई लेते समय खुले हुए मुख की उपमा कवि ने मुख खुले हुये कमल से की है तथा उस जम्हाई लेते हुए मुख पर स्थित नेत्रों की कल्पना भौंरों

से की है। जिस प्रकार मुँह खुले कमल की गन्ध की वायु का लोभी भ्रमर उस कमल के ऊपर घूमता रहता है उसी प्रकार जम्हाई लेते समय उसके मुख कमल पर स्थित घूमने नेत्र प्रतीत हो रहे हैं। यहाँ इस उपमा में पूर्ण रूपेण बिम्ब-प्रतिनिम्ब-भाव परिलक्षित है। उपमा अत्यन्त सटीक एवं सारगर्भित है।

शशिकला के मुख में कमल की गन्ध आना उसका पद्मिनी सी होना सिद्ध करता है। जैसा कि पहले भी बताया जा चुका है। पद्मिनी पद्मगन्धा ॥ ११६ ॥

अद्यापि तामनवगम्य मया वृताक्षीं,
कोऽयं वदेत्यभिहिते बहुशः सखीभिः।
मातर्न विप्र इति सस्पृहमालपन्ती-
मुत्पन्नकम्पपुलकाकुलितां स्मरामि ॥११७॥

अन्वयः—मया वृताक्षीम् अनवगम्य कोऽयं वद इति सखीभिः बहुशः अभिहिते मातः! विप्र न, इति सस्पृहम् आलपन्तीम् उत्पन्नकम्पपुलकाकुलितां ताम् अद्यापि स्मरामि ॥ ११७ ॥

अनुवादः—कवि कहता है कि मुझमें अनुरक्त नेत्र वाली, शशिकला को न जानकर कि यह कौन है। जो तुमसे प्यार करता है बताओ ऐसा सखियों के द्वारा अनेकों बार कहने पर जो अपनी मां से कह रही थी कि हे मातः! वह विप्र ऐसा नहीं है। उस समय वह कांप रही थी परन्तु पुलकित और आकुलित थी। ऐसी उस शशिकला को मैं आज भी याद कर रहा हूँ ॥ ११७ ॥

व्याख्याः—यहाँ कवि ने उस दृश्य को उपस्थित किया है जब कि उसकी मां ने यह जान लिया है कि शशिकला के नेत्रों में कोई बस चुका है परन्तु उसको यह पूरी तरह नहीं मालूम था कि शशिकला कवि से प्यार करती है। माता के सामने अनेकों बार सखियों के पंछने पर कि

बताओ वह कौन है ? जो तुम्हारी आँखों में बसा हुआ है। शशिकला कह रही थी कि मुझसे उस ब्राह्मण का कोई प्यार नहीं है जिस समय वह यह कह रही थी उसका वदन डर से कांप रहा था और व्याकुल थी परन्तु कवि का नाम लेने से अन्दर अन्दर प्रसन्न थी। उस समय कांपती हुई पुलकित और आकुलित शशिकला कवि को शूली के समय याद आ रही है।

इस श्लोक में 'अनवगम्य' शब्द कुछ विपरीत सा लगता है; क्योंकि "अनवगम्य" का अर्थ 'न जानकर' है। परन्तु बिना जाने हुये पूँछने का औचित्य ही नहीं ठहरता है। तब यदि 'समवगम्य' पाठ लिया जाय अथवा "समुपगम्य" स्वीकार किया जाय तो अधिक उचित होगा। क्योंकि काश्मीरीय पाठ में समुपगम्य ही है तथा वहाँ "भातनं विप्र इति" के स्थान पर "मौनं न वेद्मि इति" ऐसा पाठ है, जो अर्थ की दृष्टि से विशेष अन्तर नहीं रखता है। अतः पाठ तो उपर्युक्त ही उचित है। परन्तु यहाँ अनवगम्य और समुपगम्य में से कौन अच्छा रहेगा ? यही बात विचारणीय है। वैसे समवगम्य अथवा समुपगम्य पाठ अधिक उचित है क्योंकि उनसे सीधा एवं सरल अभिधेय अर्थ स्वतः निकल जाता है, क्योंकि कवि के द्वारा आकृतनेत्रा शशिकला को अच्छी तरह जानकर भी पूंछने का प्रश्न होता है, अथवा उसके पास जाकर पूँछने का औचित्य ठहरता है। कवि के बारे में बिना जाने पूँछने की कोई समस्या ही उत्पन्न नहीं होती है। अतः अर्थ सारल्य की दृष्टि से समवगम्य या समुपगम्य पाठ ही उचित है परन्तु किसी कवि ने अनवगम्य शब्द का प्रयोग भी कुछ सोच समझ कर किया होगा उसे सर्वथा अनुचित तो नहीं कहा जा सकता। हाँ अनवगम्य शब्द से यह ध्वनित होता है कि सखियों एवं माता को केवल यही पता चला होगा कि शशिकला की आँखों पर कोई छाया हुआ है परन्तु यह पता नहीं चला होगा कि वह कवि ही है। केवल यही पता चला कि वह किसी से आप्लावित है। हो सकता है कि उसके शरीर

के लक्षणों से मां जान गयी हो या फिर उसे गर्भ की स्थिति हो गयी हो क्योंकि कवि ने केवल एक बार ही उससे संभोग नहीं किया था। अनेकों बार वह उसका भोग कर चुका था। ऐसी स्थिति में गर्भ की स्थिति स्वाभाविक है, तथा उसका अभास तो प्रारम्भ में ही हो जाता है। जो भी हो मां को उसके अङ्गों से ही आभास हो गया होगा। प्रायः ऐसा होता भी है, लड़कियां जब किसी से अवैध सम्बन्ध कर बैठती हैं और गर्भ की स्थिति होती है, तो मां इसी प्रकार पूँछती है। अतः अनवगम्य पाठ से एक लम्बी कहानी ध्वनित होने के कारण मैं इसे उपयुक्त समझता हूं।

"मातर्न विप्र इति" ऐसा कहते हुये शशिकला को काँपने, आकुलित होने से उसमें स्वाभाविक भीति और कवि नामोच्चारण से अन्तः प्रफुल्लता ध्वनित होती है। अतः यहाँ स्वभावोक्ति अलंकार है ॥११७॥

अद्यापि तां प्रथमसंगसंजातलज्जां,
नीविं प्रतिकरो मम मन्दमन्दम्।
फूत्कारकम्पितशिखातरलं प्रदीपं,
कर्णोत्पलेन विजिघांसुमहं स्मरामि ॥ ११८ ॥

अन्वयः—मन्दं मन्दं नीविं प्रति मम कृतकरप्रथमसंगसंजात-लज्जां फूत्कारकम्पितशिखातरलं प्रदीपं कर्णोत्पलेन विजिघांसुं ताम् अहम् अद्यापि स्मरामि ॥ ११८ ॥

अनुवादः—कवि कहता है कि धीरे धीरे नीवि-बन्धन (नारे) की ओर मेरा हाथ जाने पर प्रथय मिलन के कारण उत्पन्न लज्जावाली, हवा से कम्पित शिखा वाले दीपक की भाँति लज्जा रूपी 'नहीं-नहीं' शब्द से कांपती हुयी शिखा वाले प्रेम रूपी दीपक को कर्णोत्पल से बचाने की इच्छा रखने वाली उस शशिकला को मैं आज भी याद करता हूं ॥११८॥

व्याख्याः—इसमें कवि को शशिकला के साथ बिताये हुए लक्षणों की स्मृति हो रही है जबकि प्रथम बार मिलने के समय स्वभावतः उत्पन्न

लज्जावाली उस शशिकला की नीवि की ओर उस कामातुर कवि का हाथ धीरे धीरे बढ़ा था। उस समय मुग्धा नायिका शशिकला के मुँह से डरते हुये फूत्कार पूर्ण 'नहीं नही' शब्द सहसा निकल पड़ा था जो स्वाभाविक था। परन्तु प्रथम मिलन से उत्पन्न लज्जा के कारण वह फूत्कार शब्द इतना तीव्र था कि उससे प्रेम रूपी दीपक बुझने ही वाला था कि शशिकला ने उसे अपने कर्णोत्पल से बचा लिया। यही इस श्लोक का भाव है परन्तु इस भाव में कवि की कल्पना-शक्ति कितनी मार्मिक एवं सारगर्भित है यही विचारणीय है। यह तो सर्वमान्य सिद्धान्त है कि तेज हवा के चलने से दीपक बुझ जाता है जब दीपक बुझ जायेगा तो प्रकाश भी नहीं होगा। इसलिये कभी कभी उस बुझते दीपक को हाथ से ढक लिया जाता है ताकि बुझ न सके। यहाँ कवि ने शशिकला के मुख को दीपक और उसकी 'नहीं नहीं' सी फूत्कार को हवा तथा उसके प्रेम को प्रकाश माना है। नीवि पर हाथ रखते ही 'नहीं नहीं' कहते हुए मुख का मुड़ जाना स्वाभाविक है जिस मुख के सौन्दर्य को देखकर कवि के हृदय में प्रेम का प्रकाश हो रहा था वह मुख जब मुड़ गया तो प्रेम का प्रकाश कैसे होगा परन्तु जैसे कोई व्यक्ति बुझते दीपक को हाथ से ढककर बचा लेता है उसी प्रकार उसके गालों पर लटकते हुए कर्णोत्पलों ने मुख रूपी दीपक को बचा लिया अर्थात् जितना सौन्दर्य पहले सामने रहने वाले मुख से था उतना ही अब गालों पर लटकते हुए कर्णोत्पलों से था। अतः कवि के हृदय में वह मुड़ा हुआ मुख और अधिक प्रेम का प्रकाश करने लगा।

कवि का यह श्लोक बहुत ही मार्मिक है इसमें कवि ने प्रथम संभोग से पूर्व नीवि पर हाथ रखते ही नारी स्वभाव का जिस शैली से वर्णन किया है वह अत्यन्त सराहनीय है। 'नहीं नहीं' कहते हुए मुख के मुड़ने की हवा द्वारा दीपक के बुझने के समान प्रेमी रूपी प्रकाश को नष्ट होने को

कर्णोत्पल से बचाने की कल्पना तो अद्वितीय एवं विलक्षण काव्यत्व की परिचायिका है।

श्रृंगार रस की व्यञ्जना की दृष्टि से भी यह श्लोक अत्यन्त प्रशंसनीय है। एक साथ स्वभावोक्ति रूपक और उपमा की छटा सहृदय पाठक को विमोहित किये विना नहीं रहती। भाषा एवं वर्णन की सरलता के कारण भावाभिव्यक्ति सहृदय श्लाघ्य है। अतः इस श्लोक की प्रशंसा में जितना कहा जाय वह बहुत ही न्यून है ॥ ११७ ॥

अद्यापि तां गतिनिराकृतराजहंसीं-
धम्मिलनिर्जितमयूरकलापभाराम् ।
चक्षुः प्रियां हसितमत्तचकोरनेत्रां,
सञ्चिन्तयामि कलकण्ठसमानकण्ठीम् ॥११८॥

अन्वयः—गतिनिराकृतराजहंसीं धम्मिलनिर्जितमयूरकलापभारां चक्षुर्हसितमत्तचकोरनेत्रां कलकण्ठसमानकण्ठीं ताम् प्रियाम् अद्यापि सञ्चिन्तयामि ॥ ११८ ॥

अनुवादः—कवि कहता है कि गमन में राजहंसी को भी मात कर देनेवाली, केशपाश में मयूर पुच्छ की शोभा को धारण करने वाली, हंसने में मत्त चकोर की भांति नेत्रो वाली तथा बोली में कोयल के समान कण्ठ वाली, उस शशिकला को मैं आज भी याद कर रहा हूं ॥ ११८ ॥

व्याख्याः—प्रस्तुत श्लोक में कवि शशिकला के सौन्दर्य को याद कर रहा है। उसकी प्रियतमा कोई सामान्य नारी नहीं है। सुन्दरता के समस्त तत्व उसमें विद्यमान है। गति में वह राजहंसी को नीचा दिखा रही है क्योंकि सर्वोत्तम गति की उपमा सदैव राजहंसी से दी जाती रही है। जो सभी कवियों को अभीष्ट हैं। परन्तु शशिकला ने गति में

राजहंसी को भी नींचा कर दिया है अतः यहाँ व्यतिरेक अलंकार का प्रयोग कर कवि ने उसकी गति की विलक्षतणा स्थापित की है। उसके केशपाश की समता कवि नाचते हुए मोर की शिखा से करता है और वह भी उत्कर्ष के साथ क्योंकि जब मयुर शिखा की सारी शोभा उसके केशपाश ने जीत ली है तब तो कोई उपमान शेष ही नहीं रहता। मयूर-शिखा अपनी कोमलत्व और कृष्णत्व के कारण केशों का उपमान माना जाता है, परन्तु शशिकला के केशों ने उसको भी जीत लिया था। इस प्रकार यहाँ भी व्यतिरेक के द्वारा कवि ने उसके केशपाश में विलक्षणत्व स्थापित किया है।

उसके नेत्रों की तुलना कवि हसित मत्त चकोर के नेत्रों से करता है जिससे शशिकला के नेत्रों में दिव्य सुन्दरता ध्वनित होती है। वैसे तो सुन्दर नेत्रों के उपमान हरिण शावक तथा चकोर के नेत्र माने गये हैं। उनमें चकोर पक्षी के नेत्र सौन्दर्य और चाञ्चल्य दोनों के क्षेत्र में अधिक उपमान बने है; परन्तु यहाँ विशेषता यह है कि शशिकला के नेत्र हंसते हुए और मदमत्त चकोर के समान थे। अतः यहाँ प्रसन्नचित्त और कामोत्सुक चकोर के नेत्रों से उपमा देने से शशिकला के नेत्रों में प्रसन्नता और कामुकता दोनों ही ध्वनित हो रही हैं।

'कलकण्ठसमानकण्ठीं' में कवि उसके कण्ठ की उपमा कलकण्ठ से दे रहा है। यहाँ इसके अनेक अर्थ हैं, कलकण्ठ कोयल हंस और कबूतर को कहा जाता है। अतः तीनों ही अर्थ ग्राह्य हैं। ध्वनि के लिये कोयल तथा सुन्दरता के लिए हंस या कबूतर। कोयल की बोली बड़ी प्रिय होती है। इसलिये वह बोली का उपमान बनकर सदा से प्रतिष्ठित है तथा गले की सुन्दरता के लिये कबूतर और हंस प्रसिद्ध हैं। अतः शशिकला कण्ठ में ये सभी गुण विद्यमान थे। इसीलिये कवि ने यहाँ कलकण्ठ शब्द का प्रयोग किया है।

इस श्लोक में कवि ने बहुत ही सटीक उपमाओं के द्वारा शशिकला के अप्रतिम सौन्दर्य पर प्रकाश डाला है ॥ ११८ ॥

अद्यापि तां मदनमन्दिरवैजयन्ती-
मन्तर्मुखे मदधरोष्ठदलं निधाय।
अङ्गैरनङ्गविकलैर्मम गाढमङ्ग-
मालिङ्ग्य केलिशयने शयितां वराङ्गीम् ॥११९॥

अन्वय:—अन्तर्मुखे मदधरोष्ठदलं निधाय अनङ्गविकलै: अङ्गैः मम गाढम् आलिङ्ग्य केलिशयने शयितां मदनमन्दिरवैजयन्तीं ताम् अद्यापि स्मरामि ॥ ११९ ॥

अनुवाद:—कवि कहता है कि मुख के अन्दर मेरे दोनों अधरोष्ठों को रखकर काम से विकल अंगों से मेरा कसकर आलिंगन करके, संभोग सैय्या पर सोयी हुयी, कामदेव के मन्दिर की विजय पताका उस शशिकला को मैं आज भी याद कर रहा हूँ ॥ ११९ ॥

व्याख्या:—यहाँ पर कवि शशिकला के साथ भोगे गये उस सुख को याद कर रहा है जब कि कामविह्वल शशिकला भी उसके दोनों ओष्ठों को पीती हुयी अपने काम विकल अंगों से गाढ आलिंगन कर संभोग सैय्या पर सो गयी थी ॥ ११९ ॥

इसमें कवि ने संभोगकालीन उत्तेजन की पराकाष्ठा पर प्रकाश डाला है। सुरतकाल में स्त्री कामावेश में पुरुष को इस प्रकार कस लेती है कि परस्पर अभेद नहीं रहता। पुरुष के अधरों को मुख में रख कर पुरुष के सर्वाङ्ग का आलिङ्गन स्त्री की पूर्ण सन्तुष्टि का द्योतक है। संभोग की वास्तविकता इसी में है तथा इस दशा में परस्पर अहं की समाप्ति हो जाती है स्त्री पुरुषमय और पुरुष स्त्रीमय हो जाता है। उस समय दोनों ही असीम आनन्द की अनुभूति करते हैं। बस यही संभोग

की सफलता है तथा ऐसी स्थिति में स्त्री को भी ला देना ही पुरुष की जीत है और इस प्रकार करती हुई स्त्री ही कामदेव के मन्दिर की विजय पताका है।

यहाँ एक कामशास्त्रीय सिद्धान्त पर प्रकाश डाला गया है क्योंकि उपर्युक्त स्थिति में जब नारी आती है। उस समय वह पूर्ण सन्तुष्टि प्राप्त करने के क्रम में होती है तथा नारी की पूर्ण सन्तुष्टि ही पुरुष की विजय है। अधरों के विषय में 'निधाय' शब्द का प्रयोग संभोग सफलता की वास्तविकता को प्रकट करता है क्योंकि 'निधाय' शब्द का अर्थ केवल "रखकर" है तथा वास्तविकता भी यही है उस समय वह पुरुष को अधरों को केवल मुँह में रखकर ही सो जाती है पीती नहीं, क्योंकि इतनी शक्ति ही नहीं रहती ॥ ११९ ॥

अद्यापि मामुपवने परिवारमुक्तां
सञ्चिन्तयाम्युपगतां मदनोद्धताम् ।
तां पार्श्वलोकभयतः शयने सशङ्कं,
व्याकुल्पते क्षणमनुमोक्षमाणाम् ॥ १२० ॥

अन्वयः—परिवारमुक्ताम् उपवने माम् उपगतां शयने व्याकुल्पते पार्श्वलोकभयतः सशङ्कं क्षणम् अनुक्षणं माम् ईक्षमाणां ताम् अद्यापि चिन्तयामि ॥ १२० ॥

अनुवादः—कवि कहता है कि परिवार छोड़कर उपवन में मेरे पास गयी हुई, संभोग शैय्या पर व्याकुल होकर गिरने पर आस पास के लोगों के भय से शंका के साथ क्षण क्षण पर मुझे देखने वाली, वह शशिकला मुझें आज भी याद आ रही है ॥ १२० ॥

व्याख्याः—घर छोड़कर उपवन में गयी हुई शशिकला को संभोग शैया पर जब कवि ने लिटा लिया। उस समय जो वह किसी के आने

के भय से शंका के साथ क्षण क्षण पर कवि को देखती थी। वह दृश्य कवि को आज भी याद है।

कवि ने यहाँ अभिसारिका की स्वाभाविक दशा का वर्णन किया है अतः यहाँ भी स्वाभावोक्ति अलंकार है ॥ १२० ॥

अद्यापि तामुरसिजद्वयमुन्ननय्य,
भ्रंश्यद्वलित्रितयलक्षितरोमराजिम् ।
ध्यायामि चालितभुजां विहितांगभंग-
व्याजेन नाभिकुहरां मम दर्शयन्तीम् ॥१२१॥

अन्वयः---उरसिजद्वयम् उन्नमय्य भ्रश्यत् वलित्रितयलक्षितरोमराजि चालितभुजां विहितांभङ्गव्याजेन नाभिकुहरं दर्शयन्तीं ताम् अद्यापि स्मरामि ॥ १२१ ॥

अनुवादः—कवि कहता है कि अपने दोनों स्तनों को उठाकर कमर के चलने से पड़ी हुयीं और मिटती हुयीं, कमर की तीन रेखाओं पर दिखाई देने वाली रोमावली, चलाती हुई भुजा और अंगों को इधर उधर मोड़ने के बहाने नाभिगर्त को दिखाती हुई, शशिकला को मैं आज भी याद कर रहा हूं ॥ १२१ ॥

व्याख्या:---इसमें कवि ने सुरतकाल की दशा का वर्णन किया है संभोग के समय शशिकला द्वारा दोनों स्तनों का उठाना, हाथों का चलाना, कमर की तीन रेखाओं को मिटाना, इन सबसे विपरीत रति क्रिया व्यञ्जित हो। पुरुष के ऊपर स्थित होकर संभोगरत नारी का भुजायें चलाते हुये कामावेग में तन कर सीधी हो जाना स्वाभाविक है। तन कर सीधी होने से कमर के ऊपर नाभि के पास पड़ी हुयी तीन रेखायें मिटना स्वतः सिद्ध है तथा कामावेश में तनकर सीधी होने से स्तनों का ऊपर उठना स्वतः सिद्ध है और अधिक से अधिक तन कर

पुरूष को संभोग सुख प्रदान करती है। कवि ने यहां विपरीत रति-क्रिया का बड़ा ही मनोरम वर्णन प्रस्तुत किया है तथा उस समय नारी स्वभाव का यथार्थ चित्र खींचा है जिससे यहां स्वभावोक्ति अलंकार है॥ १२१ ॥

अद्यापि तानि मृदुमन्मथभाषितानि
तिर्यग्विवर्तनयनान्तनिरीक्षितानि ।
लीलालसांचित्तगतानि शुचिस्मितानि,
तस्याः स्तमरामि हृदि विभ्रमचेष्टितानि ॥१२२॥

अन्वयः—अद्यापि तस्याः तानि मृदुमन्मथभाषितानि तिर्यग् विवर्तनयनान्तनिरीक्षितानि लीलालसां चित्तगतानि शुचिस्मितानि विभ्रमचेष्टितानि हृदि स्मरामि ॥१२२॥

अनुवादः—कवि कहता है कि आज भी मैं उस शशिकला के उन मधुर और मन को मथने वाले वचनों को, तिरछे घूमते हुये नेत्रों के अन्त तक जाने वाले कटाक्षों को, कामक्रीडा से अलसित चित्त-वृत्तियों को, मन्द मुस्कानों को तथा विलासपूर्ण अंगभंगिमाओं को अपने हृदय में स्मरण कर रहा हूँ ॥१२२॥

व्याख्या:—शशिकला की बोली में कवि ने दो विशेषतायें बतायी हैं। एक ता मृदु अर्थात् मधुर होना और दूसरे मन्मथ अर्थात् मन को मथने वाली थी। अतः बोली में मधुरता के साथ-साथ मादकता भी थी। काश्मीरीय पाठ में 'मृदुसारविभाषितानि' शब्द का प्रयोग है, जिससे मधुरता के साथ-साथ सार स्वरूपता भी परिलक्षित है। वास्तव में यह उचित ही है। स्त्री का उपदेश मधुर और सारगर्भित होता है। तभी प्रिय उसे तुरन्त ग्रहण कर लेता है। जीवन भर के उपदेश उस समय निःसार हो जाते है जब कि वह सुहाग रात को अपनी प्रेमिका का सार स्वरूप उपदेशामृत ग्रहण करता है।

'तिर्यक्विवर्तनयनान्तनिरीक्षितानि' में निरीक्षतानि अर्थात् निगाहों की विशेषता बतायी गयी है उसकी निगाहें तिरछी घूमने वाली तो थी ही साथ ही वे निगाहें नयनों के छोर तक कटाक्षों से युक्त थी। इस प्रकार का कटाक्ष सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। जो भयङ्कर बाण से भी घातक होता है अन्तर केवल इतना है कि बाण प्राण हरता है तो यह मन हरता है। 'लीलालसांचितगतानि' पद उसकी कामक्रीडा से अलसित चित्तवृत्तियों को प्रकट करता है। कामक्रीड़ा के बाद स्त्री की मनोदशा कुछ अन्य प्रकार की ही हो जाती है उस काल में उसका मदयुक्त शरीर बड़ा ही मनोहर लगता है।

'विभ्रमचेष्टितानि' का अर्थ विलास पूर्ण चेष्टायें हैं जिनके द्वारा स्त्री अंगड़ाई लेकर आंखें इधर-उधर घुमाकर जमुहाई लेकर पुरुष को अपना अंग प्रदर्शित करती है। इस प्रकार स्त्री की एक विशिष्ट दशा का स्वाभाविक वर्णन होने के कारण यहाँ स्वभावोक्ति अलंकार है।।१२२।।

अद्यापि तां मयसमीलितसाचिनेत्रां,
लोलद्भुजावलयझंकृतिशब्दहस्ताम् ।
बालां कठोरकुचमुन्नमितभ्रकर्ण
कण्डूयनं विदधतीं हृदि चिन्तयामि ।।१२३।।

अन्वयः—अद्यापि मयसमीलितसाचिनेत्रां लोलद्भुजवलयझंकृति-शब्दहस्तां कठोर – कुचमुन्नमितभ्रकर्णे कण्डूयनं विदधतीं तां बालां हृदि चिन्तयामि ।।१२३।।

अनुवादः—कवि कहता है कि आज भी मैं चञ्चल समीलित और कटाक्ष युक्त नेत्रों वाली, चञ्चल भुजा में पहने हुये कंगन की झनकार करती हुयी, अपने कठोर कुच को उठाकर, भौंह और कान के बीच खुजलाती हुयी उस बाला शशिकला का अपने हृदय में चिन्तन कर रहा हूँ ।।१२३।।

व्याख्या:—'मयसमीलितसाचिनेत्रां' से यहाँ सम्भोग पूर्व की स्थिति ध्वनि होती है। क्योंकि मय् धातु का अर्थ हिलना है इसी से 'मय' शब्द बना है अतः हिलने वाले तथा समीलित=बंद और साचि=तिरछे। अतः उन आंखों में ये तीनों ही क्रियायें एक साथ हुयी थीं। उन कटाक्ष-युक्त नेत्रों का हिलते हुये बंद होना अत्युकट संभोग को अभिलाषा व्यक्त करना है। साथ ही ऐसे समय में जब कि झन झनाते हुये कंगन वाली चञ्चल भुजा से कुचों को उठाकर भौंह और कान के बीच खुजलाया जा रहा हो तब तो फिर संभोग के निमन्त्रण में कोई संदेह ही नहीं रहता तथा यह स्वाभाविक है क्योंकि स्त्री कितनी ही सम्भोगेच्छुक क्यों न हो पुरूष से स्पष्ट निवेदन नहीं कर सकती। इस नार्युचित लज्जा का निर्वाह करने के लिये ही वह पुरुष को कुछ शारीरिक संकेतों के अपनी इच्छा का आभास दिलाती है। उस समय उसके अनेक संकेत होते हैं। जैसे वह अपनी चञ्चल आंखों को इधर-उधर घुमाकर, वक्ष-स्थल को उठाकर, स्तनों से वस्त्र को हटा कर, अपनी त्रिवली या नाभि विवर को दिखाकर पुरुष को मौन निमन्त्रण देती है। इसी प्रकार का एक मौन निमन्त्रण इस श्लोक में विवेचित है। यह तो एक ऐसा मौन निवेदन है कि जिसमें समस्त शरीर ही आह्वान कर रहा है।

वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय से प्राप्त पाण्डुलिपि में मय के स्थान पर 'मयि, शब्द का प्रयोग है जिससे विपरीत रतिक्रिया अभिव्यञ्जित होती है। क्योंकि मयि का अर्थ है 'मेरे ऊपर' तथा ऐसा विपरीत रतिक्रिया में ही होता है। उस समय बांहों को इधर उधर फेंकते हुये कठोर कुचों को ऊपर उठाकर तन जाना स्वाभाविक है ऐसी स्थिति में कान और भौंह के बीच खुजलाने का कोई औचित्य प्रतीत नहीं होता है। इसे हम सम्भोगेच्छा प्रकट करना तो कदापि स्वीकार नही कर सकते, हां और अधिक संभोग करने का संकेत मान सकते हैं जो अभद्र सा लगता है। अतः यहाँ मयि शब्द न होकर मय ही उचित है॥ १२३॥

अद्यापि तां कटितटार्पितवामपाणि-
माकुञ्चितैकचरणाग्रनिरुद्धभूमिम् ।
स्तम्भावलम्बितभुजां पथि मां व्रजन्तं,
पश्याभि बन्धुरितकन्धरमीक्षमाणम् । २४ ॥

अन्वयः--कटितनटार्पितवामपाणिम् आकुञ्चितैकचरणाग्रनिरुद्धभूमिम् स्तम्भावलम्बितभुजां बन्धुरितकन्धरं पथि व्रजन्तं माम् ईक्षमाणां ताम् अद्यापि पश्यामि ॥ १२४ ॥

अनुवादः---कवि कहता है कि मैं आज भी उस शशिकला को याद कर रहा हूँ जबकि मैं अपनी एक भुजा को उसके कन्धे पर रखकर, अपने कन्धे को कुछ झुकाकर रास्ते में जा रहा था उस समय उसका वांया हाथ मेरी कमर के पास रखा था और अपने एक पैर के भाग से आगे की भूमि को रोक रही थो ताकि उसी तरह वह सहगमन अधिक समय तक हो सके ॥ १२४ ॥

व्याख्याः--प्रस्तुत श्लोक में शशिकला का कवि को कमर पर वांया हाथ रखकर चलना और चलते समय अपने पैर के अग्रभाग से मार्ग को रोकना अधिक देर तक सहगमन को ध्वनित करता है; तथा सहगमन में प्रायः स्त्री पुरुष की कमर पर तथा पुरुष स्त्री के कन्धे पर हाथ रखकर चलते हैं तथा उस समय स्त्री का कद कुछ छोटा हाने के कारण पुरुष का कन्धा झुकना स्वाभाविक है।

यहाँ इसका अर्थ कवि के पक्ष में भी जा सकता है अर्थात् कवि के कन्धे पर शशिकला का हाथ था। इसलिये उसका कन्धा झुका हुआ था और कवि उसकी कमर पर अपना हाथ रखकर चल रहा था। अर्थ तो ठीक है परन्तु स्त्री का पुरुष के कन्धे पर हाथ रखकर चलना अनुचित सा लगता है; क्योंकि स्त्री प्रायः पुरुष से लघुकाय होती है। अतः वह पुरुष के कन्धे पर हाथ रखकर नहीं चल सकती। यदि ऐसा करती है तो अभद्र तो अवश्य लगती है अतः पूर्व अर्थ ही उपयुक्त है ॥ १२४ ॥

अद्यापि तद्विशदखण्डितदन्तवासां,
लीलानिमीलितविलोलविशालनेत्राम् ।
पश्यामि निर्मलनिशाकरकान्तिकान्तं,
स्वाङ्गान्युरस्नितमिवाननमायताक्ष्याः ॥१२५॥

अन्वयः—अद्यापि आयताक्ष्याः तद्विशदखण्डितदन्तवासां लीलानिमीलितविलोलविशालनेत्रां आयताक्ष्याः निर्मलनिशाकरकान्तिकान्तं उरस्नुनम् इव आननम् अङ्गानि च पश्यामि ॥ १२५ ॥

अनुवादः—कवि कहता है कि आज भी मैं उस सुन्दरी खण्डित अधरवाली, कामक्रीड़ा में चञ्चल और विशाल आँखों को बंद करनेवाली शशिकला को तथा उस विशालनेत्रों वाली के हृदय से ही निकले हुए की भाँति निर्मल चन्द्रमा की कान्ति के समान सुन्दर मुख को तथा अन्य अंगों का देखता हूँ ॥ १२५ ॥

व्याख्याः—इस श्लोक में बहुत सुन्दर शब्दावली के साथ सुन्दर उपमाओं का प्रयोग किया गया है। 'विशदखण्डितदन्तवासां' में बहुव्रीहि समास है तथा इसमें शशिकला के अधर और दांतों की विशेषता बतायी गई है। यहाँ विशद का अर्थ अत्यन्त श्वेत और खण्डित का अर्थ खुले हुये दन्तवासां का अर्थ दांतों में बसने वाले अर्थात् अधर "विशदाः खण्डिताश्च दन्ताः तेषु वसन्तीति विशदखण्डितदन्तवासाः; यस्याः सा ताम्" इस विग्रह के अनुसार अत्यन्त श्वेत दांतों में बसने वाले अधर वाली। इस प्रकार यह विशद और खण्डित शब्द दांतों और अधरों दोनों की विशेषता प्रकट करता है परन्तु दूसरे विग्रह 'विशदः खण्डितः दन्तवासः यस्याः सा ताम्' अर्थात् सुन्दर और काटे हुए अधर वाली के अनुसार केवल अधर की विशेषता प्रकट करता है। इस प्रकार श्लेष के के द्वारा इसमें दो अर्थ निकलते हैं। परन्तु जब इन दोनों अर्थों का एकही में समावेश कर दिया जाय तो कुल मिलाकर अर्थ होगा कि अत्यन्त

श्वेत और खुले हुए दांतों के अन्दर रहने वाले सुन्दर और खण्डित अधर वाली।

इस प्रकार यहाँ कवि ने विशेषण के प्रयोग में बहुत ही कुशलता का परिचय दिया है। क्योंकि विम्बाधर शब्द का प्रयोग कर अधरों की लालिमा के वर्णन से ता साहित्य भरा पड़ा है परन्तु ऐसे अधर यदि अत्यन्त चमकीले श्वेत दांतों के मध्य में स्थित हो तो कहना हो क्या ? फिर जब वह मुह खुलता होगा और दांतों की आभा उन अधरों पर पड़ती होगी उस समय पता नहीं कितना सौन्दर्य टपकता होगा यह वर्णन का विषय नहीं है। जैसे अंधेरे में रखी हुई कोई वस्तु प्रकाश के अभाव में दिखाई नहीं देती उसी प्रकार उज्जवल दांत जब तक नहीं खुलते तव तक बिम्बाधरों का सौन्दर्य पूर्णतः परिलक्षित नहीं होता। ऊधर हो क्या सारे मुख की शोभा वढ़ जाती है।

'लीलानिमीलितविलोलविशालनेत्रां' से कवि की नायिका स्मरान्धा प्रतीत होती है। कामक्रीडा के समय नेत्रों को बन्द कामक्रीडा के समय नेत्रों को बन्द कर लेना इसी का लक्षण है। अधिक क्या इस 'विशालनेत्रा' शशिकला के मुख की उपमा देने में कवि ने आश्चर्य कर दिया है उसका मुख निर्मल चन्द्रमा की कान्ति के समान सुन्दर होना तो सामान्य बात है। परन्तु वह मुख हृदय से निकला हुआ होना एक विशेष महत्वपूर्ण है। क्योंकि मुख हृदय का दर्पण होता है। हृदय के भावों की सूचना सहसा मुख दे ही देता है। अतः शशिकला का मुख हृदय से निकला होना। उसके हृदय की भी सुन्दरता को ध्वनित करता है अतः शशिकला का मुख जितना सुन्दर हो वैसा ही उसका हृदय भी था तथा उसके मुख पर लक्षित समस्त भाव उसके हृदय के भाव ही थे।

काटे हुए अधरों और कामक्रीडा में आँखों के बन्द करने से यहाँ कवि को सुरत की स्मृति ध्वनित हो रही है॥ १२५॥

अद्यापि तां मयि दृशं नुदतीं स्मरामि,
जाने स्मरज्वरहरां मधुरां सुताराम् ।
श्रीलज्ज्वलां स्तरतलां कुटिलां सलीलां,
निस्पन्दमंदसुपदप्रमदप्रसादाम् ॥ १२६ ॥

अन्वयः - स्मरज्वरहरां मधुरां सुतारां श्रीलज्ज्वलां स्तरतलां कुटिलां सलीलां निस्पंदमंदसुपदप्रमदप्रसादां जाने मयि दृशं नुदतीं ताम् अद्यापि स्मरामि ॥ १२६ ॥

अनुवादः—कवि कहता है कि कामज्वर को हरने वाली, मधुर आकृति वाली, सुन्दर पुतलियों वाली, सौन्दर्य शील से चमकती हुई कभी सीधी (सरल) तो कभी कुटिल कामक्रीडा करती हुई, बिना हिले डुले धीरे धीरे सुन्दर पदों के रखने से मन को प्रसन्न कर देने वाली उस शशिकला को मैं जानता हूँ तथा मुझ पर दृष्टि डालती हुई उसको मैं आज भी स्मरण करता हूं ॥ १२६ ॥

व्याख्याः—यहाँ कवि सहगमन करती हुई शशिकला के सौन्दर्य का वर्णन किया है, कामाग्नि को शान्त करने वाली मधुर आकृति वाली उस शशिकला की लड़खड़ाती हुई चाल कवि को आज भी याद है। उस समय उसके शान्त और मन्द मन्द सुन्दर पदों के संचालन से कवि को जो आनन्द मिल रहा था वह प्रमाद मात्र था जिसमें कवि को सब कुछ मिल गया था उस प्रसाद में माधुर्य इसलिये और आ गया कि शशिकला की दृष्टि कवि पर थी। भला वह उसको कैसे भूलता ॥ १२६ ॥

केचिद्वदन्ति सुकवेरपि मुग्धताया-
मद्यापि याति रमणाय नरेन्द्रपुत्र्या ।
भो ! भो ! कवीन्द्र विजयी विहसेह आशु,
अद्यापि तां हि परिचिन्तय सर्वसिद्धौ ॥१२७॥

अन्वयः—सुकवेः मुग्धतायाम् अपि केचिद् वदन्ति (यत्) अद्यापि नरेन्द्रपुत्र्या सह रमणाय याति भो ! भो ! विजयी, कवीन्द्र ! इह आशु विहस, अद्यापि सर्वसिद्धौ तां हि परिचिन्तय ॥ १२७ ॥

अनुवादः – कवि की यह दशा देखकर कुछ लोग श्रेष्ठ कवि की शशिकला के प्रति ऐसी मुग्धता के बारे में सोचने लगे कि वास्तव में कवि आज ही नरेन्द्रपुत्री के साथ रमण करने के लिए जा रहा है तब सभी उसके इस प्रकार के सच्चे प्रेम को देखकर आशीर्वाद देते हुए बोले कि कवीन्द्र तुम्हारी विजय हो गई अब तुम शीघ्र हंसो और आज भी तुम अपनी सर्वार्थ सफलता के लिये उस राजपुत्री शशिकला का ही चिन्तन करो वही तुम्हारा सर्व विधि कल्याण करेगी ॥ १ ७ ॥

व्याख्याः—इस श्लोक में कथन की समास शैली को अपनाया गया है। कौन किससे कह रहा है इसे गुप्त कर केवल कथोपकथन द्वारा भाव स्पष्ट कर दिया गया है इसके अध्ययन से ऐसा लगता है कि समस्त जन समुदाय कवि और शशिकला के प्रेम पर सहानुभूति प्रकट कर रहा है। इसलिये वह कवि को हंसते हुए देखना चाहता है तथा जनसमुदाय पूर्वरूपेण आश्वस्त है कि सर्वविध सफलता के लिये राजकुमारी का चिन्तन भी आवश्यक है ॥ १२७ ॥

शृंगारसागरसमुद्धितचन्द्रलेखां,
चित्तं कवेरपि विमोहयन्तीं सुनेत्राम् ।
ध्यायामि विद्वज्जन ? तां न चान्यमद्यापि
आशास्य तामिति कविः पुनरेव दध्यौ ॥ १२८ ॥

अन्वयः—विद्वज्जन ! शृङ्गारसागरसमुद्धितचन्द्रलेखां सुनेत्रां कवेः अपि चित्तं विमोहयन्तीं ताम् अद्यापि ध्यायामि । अन्यं न इति । आशास्य ताम् च कविः पुनरेव दध्यौ ॥ १२८ ॥

अनुवादः—इसमें कवि उपस्थित विद्वानों से कहता है कि हे विद्वज्जन ? मैं आज शृङ्गार रूपी सागर को उद्वेलित करने वाली, चन्द्रलेखा

की भांति, सुन्दर नेत्रों वाली, मेरे चित्त का विशेष रूप से मोहित करती हुई, उस चन्द्रकला का ध्यान कर रहा हूँ किसी अन्य का नहीं। अतः आप लोग ये आशिर्वाद दें कि उसको कवि पुनः धारण करे अर्थात् मैं पुनः धारण करूं ॥ १३० ॥

व्याख्या:—यहाँ कवि ने रूपकातिशयोक्ति के द्वारा यह बताया है कि चन्द्रकला वास्तव में यथानाम तथा गुणवाली है। जिस प्रकार चन्द्रकला (चन्द्रमा की किरणें) समुद्र के जल में ज्वार भाटा पैदा करती हैं उसी प्रकार चन्द्रकला भी हृदय में स्थित शृंगाररूपी जल में ज्वार भाटा पैदा कर देने वाली है जैसे समुद्र के जल में चन्द्रकलाओं के प्रवेश करते ही उथल पुथल मच जाती है उसी प्रकार जब से चन्द्रकला ने कवि के हृदय में प्रवेश किया है उसमें उथल पुथल मची हुई है। क्यों न मचती वह कोई सामान्य नारी नहीं थी। इसीलिये यहाँ अपि शब्द का प्रयोग किया गया है जिसे कवि के चित्त में स्थिरता और दृढ़ता ध्वनित होती है तथा शशिकला के सौन्दर्य में उत्कर्ष व्यञ्जित होता है। क्योंकि कवि का हृदय इतना सामान्य नहीं था जिसको कोई सामान्य नारी भी मोहित कर लेती परन्तु सागर के जल को भी उद्वेलित करने वाली चन्द्रकला की भाँति चन्द्रकला ने कवि हृदय के शृङ्गार सागर को उद्वेलित कर ही दिया। वह भी ऐसा कि अब कवि शूली के समय भी केवल उसी का ध्यान कर रहा है, अन्य का नहीं। साथ ही वह समस्त उपस्थित विद्वज्जन से यह आशीर्वाद भी पाना चाहता है कि वह उसे परजन्म में प्राप्त करे ॥१३०॥

शृङ्गारिभिः सुगुणिभिर्नरराजलोको,
विज्ञापितः शमयतां किमिदं चरित्रम्।
काश्मीरकः कविरयं विविधागमज्ञो,
यस्याभिषाद्वद विसंश्रृणुनस्तदेव ॥ १३१॥

अन्वयः—शृङ्गारिभिः सुगुणिभिः नरराजलोकः विज्ञापितः किम् इदं चरित्रं शमयताम्। काश्मीरकः अयं कविः विविधागमज्ञः वद, यस्य आभिषात् वदः तद् विसंश्रृणुनः एव ॥ १३१ ॥

अनुवादः—इसके बाद श्रृङ्गारप्रिय तथा अच्छे गुणवाले लोगों के द्वारा महाराज वीरसिंह को बताया गया कि क्या यह चरित्र क्षमा कर दिया जाय। क्योंकि कश्मीर निवासी यह कवि अनेकों आगमों का ज्ञाता है। बताओ जिसके संभोग करने से वह मारने योग्य है॥ १३१ ॥

व्याख्याः—इसमें लोगों ने राजा से यह प्रार्थना की है कि यह कवि विविध आगमों का ज्ञाता है। अतः मारने योग्य नहीं है इसको क्षमा कर दिया जाना चाहिये।

आगम और निगम दो विद्यायें कही गई है। निगम वेद विद्या को कहा जाता है और आगम के अन्तर्गत लोक विधायें आती हैं जिनमें कामशास्त्र का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यहाँ ऐसा प्रतीत हो रहा है कि कवि द्वारा सुनाये गये शशिकला के साथ किये गये संभोग के वर्णन से युक्त अद्भुत कामकला से समन्वित तथा अप्रतिम काव्यप्रतिभा से सम्पन्न वसन्ततिलका छन्दोबद्ध काव्य ने विद्वानों को प्रभावित कर दिया। इस लिये उन्हें महाराज वीरसिंह से क्षमा करने के लिये निवेदन करना ही पड़ा ॥१३१॥

राजा विचार्य सुकविः सकला विमन्युः
पुत्रीं कवीन्द्ररमणां रमणैकनिष्ठाम्।
ईषत्कलासद्‌गुणानहितं स एवं
पुत्रीं कवीश्वरमतो मुमुचुः द्रुतञ्च ॥१३२॥

अन्वयः—अतः सुकविः सकला विमन्युः राजा ईषत्कलासद्‌गुणान् अहितं च विचार्य कवीन्द्ररमणां रमणैकनिष्ठां पुत्रीं कवीश्वरञ्च मुमुचुः ॥१३२॥

अनुवादः—इस प्रकार सुन्दर विचारों वाले कलाप्रिय, क्रोध रहित राजा ने कुछ, कला सद्‌गुण और अहित को विचार करके कवींन्द्र बिल्हण द्वारा रमण की गयी और रमण में एकनिष्ठ होकर प्रवृत हुई शशिकला को तथा कवीश्वर बिल्हण दोनों को हीं मुक्त कर दिया ॥१३२॥

व्याख्या:—सुकवि शब्द को प्रयोग यहाँ राजा के विशेषण के रूप में किया गया है जिसका अर्थ अच्छे विचार वाला भी है। साथ ही हो सकता है कि राजा भी श्रेष्ठ कवि हो। इसीलिये उसने सोचा कि इस श्रेष्ठ कवि विल्हण के मर जाने से एक कला का तथा अच्छे गुणों का तो नाश हो जायेगा तथा ऐसी गुणवान् और कलावान् विभूति का नाश राजा के लिये अहित कर हो सकता है। क्योंकि इससे प्रजा में क्रान्ति हो सकती है। यह सब सोच कर कवि श्रेष्ठ विल्हण और शशिकला को मुक्त कर दिया।

इस श्लोक में वाक्यदोष है क्यों कि यहाँ कर्तृवाच्य होने के कारण 'मुमोच' होना चाहिये था परन्तु राजा के लिये 'मुमुचुः' बहुवचन का प्रयोग उसके सम्मान को बढ़ाता है ॥ १३२ ॥

तं भूपतिः कविवरं तु विमोचयित्वा
दत्त्वा सुतामपि विशिष्टगुणाय तस्मै।
विद्वत्सुताहननपापत एव मुक्तो
युक्तं विधाय सकलं सममेव शश्वत् ॥१३३॥

अन्वयः—तं कविवरं तु विमोचयित्वा विशिष्टगुणाय तस्मै सुतामपि दत्वा सकलं सममेव शश्वत् युक्तं च विधाय भूपतिः विद्वत्सुताहननपापतः एव मुक्तः ॥१३३॥

अनुवादः—उस श्रेष्ठ कवि विल्हण को मुक्त करा के और विशेष गुण वाले उस कवि के लिये अपनी पुत्री शशिकला को प्रदान करके सब कुछ तुरन्त ही स्थायी रूप से अच्छी तरह व्यवस्थित करके राजा वीरसिंह विद्वान् कवि विल्हण तथा पुत्री के वधरूपी पाप से मुक्त हो गये। ॥१३३॥

तौ हर्षमापतुरुभौ वरराजपूज्यौ
धीरस्तथा गुणवती च नरेन्द्रपुत्री।
अन्योऽन्यरागरतिरंगसुभोगभोगौ
शृंगारदर्शितगुणौ जगति प्रसिद्धौ ॥१३४॥

अन्वयः—अन्योऽन्यरागरतिरंगसुभोगभोगी श्रृंगारदर्शितगुणौ जगति प्रसिद्धौ तौ उभौ नरराजपूज्यः धीरः कविवरः गुणवती नरेन्द्रपुत्री च हर्षम् आपतुः ॥१३४॥

अनुवादः—इसके बाद परस्पर आसक्त हुये प्रेम के रंग में रंग कर सुन्दर भोग भोगने वाले, अपार श्रृंगारदर्शित करने वाले संसार में प्रसिद्ध हुये वे दोनों महाराज द्वारा पूजनीय धैर्यवान् कवि श्रेष्ठ विल्हण और गुणवती राजकुमारी शशिकला प्रसन्नता को प्राप्त हुये ॥१३४॥

मित्रं शशी सकलपुष्पशरो वसन्तो
यस्यास्ति बन्धुरिति यस्य रतिः कलत्रम् ।
यस्यापि सुन्दरधनुः वनिता कृशाङ्गी
पुष्णाति सकुशलं खलु पुष्पधन्वा ॥१३५॥

अन्वयः—यस्य मित्रं शशी सकलपुष्पशरः वसन्तः बन्धुः रतिः च यस्य कलत्रं कृशाङ्गी वनिता यस्य सुन्दरधनुः अस्ति इति पुष्पधन्वा खलु सकुशलं पुष्णाति ॥१३५॥

अनुवादः—चन्द्रमा जिसका मित्र है सकल पुष्परूपी बाण वाला वसन्त जिसका बन्धु है और रति जिसकी पत्नी है। पतले उदर वाली स्त्री जिसका सुन्दर धनुष है। ऐसा कामदेव निश्चय ही कुशलतापूर्वक पालन करता है ॥१३५॥

व्याख्या—यहां काव्य का विसर्जन होने जा रहा है इसलिये इस काव्य के प्रधान रस श्रृंगार के देवता भगवान् कामदेव की महिमा का गुण गान कर मंगल कामना की गयी है। चन्द्रमा की चांदनी कामोद्दीपन में सर्वाधिक सहायक होती है इसलिये वह कामदेव का मित्र माना गया है। वसन्त ऋतु काम की दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ ऋतु है। इसलिये वसन्त को काम का बन्धु माना गया है तथा पतली कमर वालीं स्त्री का अलम्बन है। इसलिये उसे कामदेव का धनुष माना गया है क्योंकि इसी के माध्यम से वह मनुष्य को कामातुर बनाता है। ऐसे उस कामदेव से कुशलता और शारीरिक पुष्टता की प्रार्थना की गयी है ॥१३५॥

श्लोक–सूची

शुद्धि-निर्देश

प्रस्तावना

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१	फुटनोट	Tubial	Typical
	,,	Englush	English
	,,	Sitesotuse	Literature
२	,,	Enlroduction	Introduction
	,,	Studp	Study
	,,	Siteratuse	Literature
३	२३	भावों की	भावों का
	२५	करती है	करता है
४	१२	नाम माना	नाममात्र
६	१०	छान	छन्द
९	४	सुखानुभूति	सुखानुभूत
	१५	प्राप्त	प्राय:
१५	३	पद्मिनी	यामिनी
१५	१४	विल्हण वीरसिंह	विल्हण वहाँ पहुँचते हैं। वीरसिंह
१८	६	है।	हो।

२० फुटनोट (अंग्रेजी) नं० २ के स्थान पर निम्न पढ़ा जाये--

There was no doubt a king of Anhil Vad called Vir Singh. But he died in 120 A. D. One hundred years before Bilhan's real date besides the M. S. S existing in Kanta

country give defferent names for the daughter Madanabhiram Yamini Purna Tilaka more ever an indentical ancedote is told of another Poet Chaur to whom also in some M. S. S. The whole Panchashika is aseribed canto of Vikramank Charitam, No mention of story is made introduction to Vikramank Charit.

२७	१२	नीतिबन्धन	नीविबन्धन
३०	फुटनोट	rescued	rescued
	,,	Pessasse	Passasses
	,,	lenguale	language
	,,	Simlole	Simple
३४	फुटनोट नं १	attoching	attaching
		Tadpatsikar	Tadpatrikar
३९	१९	झुकी हुयी वह वह	झुकी हुयी उस
	२०	स्मरण	स्मररणे
९३	२०	निह्नत	निह्नुत
११४	४	उद्वोल	उद्वेल
११८	१	अवापि	अद्यापि
१२७	१०	मुग्धश्रमद्भ्रमर	मुग्धभ्रमद्भ्रमर

★